उत्कर्ष के अक्तूबर + नवम्बर' ६७ अंकों की संयुक्त फाइल

आचार्य नरेन्द्र देव

साहित्य ○ सस्कृति ○ समाज ●

मुखपृष्ठ का चित्र . हरिमोहन सेम्सन

[सम्पादन एवं सचालन अवैतनिक]

प्रबन्ध सम्पादक · घनानन्द उपाध्याय

सम्पादक . गोपाल उपाध्याय ○ भुवनेश मिश्र

मूल्य ३ ५०

प्रथमोवाच :

सम्पादकीय

भारत मे बहुपक्षीय राष्ट्रीय आन्दोलन का मुख्य लक्ष्य विदेशी दासता से मुक्ति तथा भारतीय पुनर्जागरण था। इसके साथ भारत के इतिहास और सस्कृति की गौरवमयी परम्परा की रक्षा और नयी युग दृष्टि के सन्दर्भ मे उसे आत्म-सात करना और उनके अन्दर निहित उदार मान्यताओ, आदर्शों का प्रसार करना भी महत्वपूर्ण कार्य था। इससे भी बडा लक्ष्य था युगचेतना के नये आदर्शों 'राष्ट्रीयता, जनतत्र तथा समाजवाद के आधार पर देश के पुनर्निर्माण का कार्य पूरा करना।

आचार्य नरेन्द्रदेव विचारो से इन महत आदर्शों के प्रति प्रभावित ही नही थे बल्कि उनका सम्पूर्ण जीवन और साधना उनकी सिद्धि के लिए समर्पित थी। हमारे देश की स्वतत्रता के लिए उन्होने अग्रिम पक्ति मे रहकर काम किया था। उनके लिए भारतीय स्वतत्रता का अभिप्राय विदेशी दासता को मुक्ति के साथ-साथ सामाजिक और आर्थिक समानता पर आधारित नये समाज की कल्पना थी। जिस एक बात मे वह राष्ट्रीय आन्दोलन के अनेक नेताओ से अलग, सबसे ऊचे लगते थे वह थी आदर्शों के ही अनुरूप उनके चरित्र की साधना। भारतीय समाजवाद के इतिहास मे उनका प्रमुख स्थान है, हम जानते हैं। उनका विचार था कि जब तक कोई देश समाज का इतिहास और सस्कृति और उसकी परिस्थितियो से जानकारी नही रखता तब तक बाहरी प्रयोगो से उसे लाभ नही मिल सकता। इस दृष्टि से आचार्य जी ने भारतीय सस्कृति का गहन अध्ययन किया था और भारतीय समाजवाद की नयी रूपरेखा तैयार की थी।

आज हम चरित्र के सकट से जूझ रहे है। लेकिन इससे भी अधिक यह आस्था का सकट है। आचार्य जी के अनुसार इस सकट का समाधान वैज्ञानिक प्रगति

से सामजस्य तथा नये मानव मूल्यो के प्रति विश्वास से होगा जो नयी व्यवस्था का आधार हो सकता है। आवश्यकता नैतिक सकल्प की है। निश्चित ही इस सिद्धि को प्राप्त करने के लिए पग-पग पर आचार्य जी के महत् विचारो की आवश्यकता हैं।

हमे खुशी हैं कि आचार्य जी जैसे युग चेता और सर्वमान्य व्यक्तित्व के विचारो से अवगत होते रहने की दिशा मे लखनऊ के कतिपय विचारको ने १९६० मे आचार्य नरेन्द्र देव अध्ययन मण्डल की स्थापना की थी। मण्डल का उद्देश्य आचार्य जी के विचारो के प्रकाश मे आधुनिक समस्याओ को वैचारिक स्तर पर समझ कर उनका समाधान ढूढना है। हम ऐसे प्रयासो का स्वागत करते हैं। इस सकलन के सयोजन मे भी हम प्रो० राजाराम शास्त्री उप कुलपति काशी विद्यापीठ, श्री नारायण दत्त तिवारी सयोजक अखिल भारतीय युवक काग्रेस, श्री जगन्नाथ उपाध्याय सस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी, एव श्री चन्द्रोदय दीक्षित, अजयकुमार, रमेशचन्द्र काशीविद्यापीठ तथा डा० लक्ष्मीदत्त ठाकुर लखनऊ विश्व विद्यालय के प्रति आभारी हैं।

आचार्य जी अपने विचारो को जितना लिख सकते थे उतना अपने व्यस्त राजनैतिक जीवन तथा रुग्णता के कारण लिख नही पाये। इस लिए आवश्यक है कि उनके जो भी निबन्ध है उन्हे एकत्रित किया जाय, विभिन्न पहलुओ पर प्राप्त उनके वक्तव्यो को सकलित कर प्रकाशित किया जाय। उनके बहुमूल्य लेख और पत्रादि उनके कई मित्रो के पास मिल सकते है जिनको सकलित किया जना चाहिए।

इस दिशा मे आचार्य जी के कुछ लेखो और भाषणो का यह सकलन प्रथम प्रयास है। भरसक हमने इसमे कई अनुपलब्ध सामग्री भी दी है और कई चीजें इसमे पहली वार प्रकाशित प्रसारित हो रही है। हालाकि हमने इसमे आचार्य जी के भाषा, साहित्य, सस्कृति और दर्शन तथा सामाजिक परिप्रेक्ष्य से सम्बन्धित सामग्री ही दी है फिर भी सारी नियोजित सामग्री दे सकना सम्भव नही हो पाया। सम्प्रति, हमने प्रयास किया है जिसे अन्य विचारक आगे बढायेंगे, ऐसी आशा है।

प्रारम्भ

शुभ और अशुभ जीवन का ताना-बाना है। प्रकृति ने ऐसा ही जीवन हमको प्रदान किया है और इस ताने-बाने के द्वारा इतिहास कार्य सम्पन्न होता है। शुभ और अशुभ के बीच सघर्ष चलता रहता है। इस सघर्ष मे शुभ की विजय सस्कृति और शालीनता की विजय है। ज्यो-ज्यो शुभ की वृद्धि और अशुभ की हानि होती है त्यो-त्यो सभ्यता की उन्नति होती है। मानव के आत्म विकास मे भी यह सघर्ष सहायक होता है। बिना सघर्ष के आत्म-विकास सम्भव नही है। जिस व्यक्ति के सामने कोई समस्या नही है, जिसने किसी समस्या के हल करने का प्रयत्न नही किया है उसके व्यक्तित्व का विकास कैसे हो सकता है। शुभ कर्म के लिए अदम्य उत्साह का होना जुल्म, अन्याय, दारिद्रय के विरुद्ध अनवरत युद्ध करना एक विकसित व्यक्तित्व का कार्य है। निरन्तर सघर्ष करके ही मानव पाशविक जीवन से ऊपर उठा है। और उसने जीवन के नवीन मानवीय मूल्यो की सृष्टि की है। मानव ने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है और यदि हम बहुजन-हित सुख के उद्देश्य से प्रेरित होकर काम करें तो विपुल साधनो का उचित उपयोग करके हम दारिद्रय और सामाजिक अन्याय का अन्त कर सकते हैं, और उन सामाजिक मूल्यो की प्रतिष्ठा कर सकते है जिनके लिए मनुष्य ने अनेक लडाइया लडी हैं और अथक परिश्रम किया है। खेद है कि साधनो के विपुल होते हुए भी दारिद्रय और विषमता का अन्त नही होता। पूजीवादी समाज साधनो पर अपने लाभ के लिए प्रभुत्व कायम रखना चाहता है और अपने हितो पर समाज के कल्याण को निछावर करता है। शोषित किसान और मज-दूर इस अन्याय को रोकने मे अपने को असमर्थ पाते है। उनमे शिक्षा और धन की कमी है। उनका सगठन दुर्बल हैं। वर्ग सघर्ष के द्वारा यह वर्ग शिक्षित और सगठित होते हैं। यही इनकी पाठशाला है। आदर्शो के लिए कष्ट सहन करना, एक दूसरे के लिए त्याग की भावना रखना इत्यादि गुणो का पोषण इन पिछडे हुए वर्गों मे इसी प्रकार होता है।

नरेन्द्र देव

जयपुर, २ अगस्त १९५५

हमारा आदर्श और उद्देश्य

आचार्य नरेन्द्र देव

भारतीय समाज मे महान् परिवर्तन होने वाले है। देश मे नवजीवन हिलोरें ले रहा है। भारत की अवरुद्ध जीवनशक्ति अब फिर वेगवती हो चली है। भारत का नया मानव अपने सपने सार्थक करने को निकल पडा है। इस नवजीवन प्रवाह को रोकने का प्रयत्न निरर्थक है। इसे रोकने का प्रयत्न सफल नही हो सकता। इस तरह सामाजिक शक्ति नष्ट करने से व्यक्तियो तथा समूहो को रोकना है। सामाजिक शक्ति की दिशा निर्धारित करनी है, उसका नियन्त्रण करना है।

पुराने आदर्शों से आज पथनिर्देश नही हो पाता। पुरानी परम्परा से आज सहारा नही मिलता। आज नये नेतृत्व की आवश्यकता है। समाजवाद ही यह नया नेतृत्व प्रदान कर सकता है। जनता के विस्तृत तथा व्यापक हित के आधार पर निर्मित यह सम्पूर्ण सामाजिक सिद्धान्त ही हमारा पथप्रदर्शन कर सकता है। जनजागरण तथा जनक्रान्ति की रीति ही समाज के समुचित विकास का साधन बन सकती है।

समाजवाद का सवाल केवल रोटी का सवाल नही है। समाजवाद मानव स्वतन्त्रता की कुजी है। समाजवाद ही एक स्वतन्त्र सुखी समाज मे सम्पूर्ण स्वतन्त्र मनुष्यत्व को प्रतिष्ठित कर सकता है। समाजवाद ही श्रेणी नैतिकता तथा मात्स्य-न्याय के बदले जनप्रधान नैतिकता तथा सामाजिक न्याय की स्थापना कर सकता है। समाज्वाद ही स्वतन्त्रता, समता और भ्रातृभाव के आधार पर एक सुन्दर, सबल मानव संस्कृति की सृष्टि कर सकता है।

ऐसी सभ्यता तथा सस्कृति की स्थापना उत्पादन के साधनो पर सामाजिक स्वामित्व स्थापित करते ही नही हो जायगी। इसके लिए पुनर्निर्माण का कार्य ही समुचित रीति से करना होगा। मानव प्रतिष्ठा की रक्षा के लिए नागरिक स्वतन्त्रता तथा उत्तरदायित्वपूर्ण प्रजातान्त्रिक राजनीतिक व्यवस्था की आवश्यकता होगी। सुन्दर और सम्पूर्ण मनुष्यत्व की सृष्टि तभी हो सकती है जब साधन भी सुन्दर हो, मानवोचित हो। उद्देश्य और साधन परस्पर सम्बद्ध तथा परस्पर निर्भर होते हैं। दोनो का अपना अपना महत्व है।

इसके अतिरिक्त इतने काल के सामाजिक विकास के बाद जो मौलिक मानवीय सत्य प्रतिष्ठित हो गये हैं, उनपर जोर देना, उन्हे समाज के पुनर्निर्माण मे उचित स्थान दिलाने का प्रयत्न करना नितान्त आवश्यक है। इनकी अवहेलना करके सभ्य और सुन्दर सामाजिक जीवन नही चलाया जा सकता। श्रेणी नैतिकता के नाम पर सभी पुराने आदर्शो और सिद्धान्तो का बहिष्कार उचित नही। समाज के दीर्घकालीन अनुभव तथा सचित ज्ञान का निरादर अनुचित होगा। इसके विपरीत पुराने आदर्शो और प्राचीन सस्कृति का अध्ययन आवश्यक है। हमारी नवीन सस्कृति के निर्माण मे इनका बहुत बडा हाथ होगा।

मेरा जीवन दर्शन

आचार्य नरेन्द्र देव

प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये जीवन के अर्थ एव उसके महत्व को अवश्य जानना चाहिए। जीवन सम्पन्न और विभिन्न रगो से परिपूर्ण है। यह सरल और दुष्कर भी है, यह हर्ष एव विषाद, जय एव पराजय प्रदान करता है। विभिन्नता जीवन का अवर्णनीय विशेष गुण है और इसी कारण जीवन के विभिन्न पहलू हैं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वय अपने मे ध्येय है और स्वय के लिये अपने दृष्टिकोण से पूर्ण एव सन्तोषदायक मार्ग की खोज अवश्य करनी चाहिये। उसे जीवन मे अपने लिये स्थान बनाना होगा और अपने प्रियकार्य को ढूढना होगा। केवल ऐसा ही कार्य प्रसन्नता प्रदान कर सकता है जो उसके स्वभाव के गहरे स्रोतो द्वारा प्रेरित हो। चूँकि जीवन के अनेक एव विभिन्न रूप हैं इसी कारण मानवीय अनुभव भी विचित्र हैं और प्रत्येक व्यक्ति उन्ही अनुभवो को प्राप्त करना पसन्द करता है जिनसे उसको पूर्ण सन्तोष प्राप्त होता हैं। उसको जीवन के पारम्परिक मूल्यो को बिना विवेचन किए स्वीकार नही करना चाहिए। जीवन लगातार परिवर्तनो को ग्रहण करता रहता है और सदा परिवर्तनशील है। विचारो एव सस्थाओ का रूप बदल रहा है और इसी कारण ये ही हमे मानवीय मूल्यो का माप प्रदान करती हैं, और बाद मे इन्ही की फिर से परिभाषा दी जा रही है। हमारा समाज जिसमे प्रभावशाली सामाजिक समस्याए उठ खडी हुई है और उनके समाधान को फिर से खोजा जा रहा है। यदि हम चाहते है कि जीवन सुखतर हो, कष्ट, पीडा एव सघर्ष जिनसे आज हम दबे हुए है कम हो तो हमे अपने समय की चुनौती का सामना करने के लिये सामाजिक मूल्यो को नया माप दड देना होगा। अत प्रत्येक व्यक्ति को अपने लिये जीवन के अर्थ को फिर से अवश्य खोजना होगा। दूसरे व्यक्ति केवल उसकी सहायता और मार्ग दर्शन कर सकते हैं किन्तु प्रयत्न उसे स्वय ही अवश्य करना होगा।

यह प्रश्न पूछा जाता है कि जीवन का ध्येय क्या है ? मानवीय उद्देश्य की परिभाषा दी जाती है—जैसे सत्य, सुन्दरता और शिव या सामाजिक हित। [सत्य, सुन्दरता और सामाजिक भलाई को मानवीय उद्देश्य की परिभाषा दी जाती है] इन उद्देश्यो की पूर्ति के लिये समस्त मानवीय प्रयत्न केन्द्रित करने होंगे। यदि हमें सामाजिक विश्रृंखलता को दूर करना है और मानव-जीवन को समृद्ध करना है तो इन्हे हमे उद्देश्य अवश्य स्वीकार करना होगा जिसके लिये हमे उसे निष्ठा देनी चाहिए और अपने आप को समर्पित कर देना चाहिए। किन्तु विभिन्न युगो मे इन मानवीय उद्देश्यो के अलग-अलग अर्थ रहे है। लगातार उनकी परिभाषा फिर से दी जा रही है और बदलती हुई सामाजिक दशाओ मे उनका पुन. मूल्यांकन किया जा रहा है। व्यक्ति अपनी सामाजिक परिस्थितियो व साम्प्रतिक वातावरण की उत्पत्ति है और यद्यपि स्वय अपने स्वभाव के लिये उसे जीवन का अर्थ पता लगाना होता है तथापि ऐसा वह जिस वातावरण मे रहता है और उसके समय के मानवीय गुणो के ढांचे के अन्दर रह कर ही कर सकता है।

विज्ञान और तकनीकी के आधुनिक युग मे सगठन की समस्याने एक विशेष महत्व ले लिया है। हमारे सामने मनुष्य जाति का एक वृहद समुदाय है और जब तक हम यह नहीं जानते कि उसे नियन्त्रित करें हमे दुखद अन्त की परिणति का सामना करना होगा। विज्ञान ने हमे विशाल स्रोतो का भण्डार दिया है, जिसका यदि उचित ढग से प्रयोग किया जाय, तो बीमारी और गरीबी (व्याधि एव निर्धनता) मिटाई जा सकती है और बाहुल्य का युग लाया जा सकता है। इस युग मे सगठन, समुदाय, एकता की आवश्यकता बहुत हो गई है और जब तक हम पिछली शताब्दी के व्यक्तिवाद का त्याग नही करते और होड के स्थान पर सहयोग के सिद्धान्त को नही अपनाते हमारा दुखद अन्त होगा और विज्ञान ने हमारी पहुच मे जो बाहुल्य स्रोत दिये हैं हम उनका बुद्धिमानी से उपयोग नही कर सकते।

यदि वर्तमान युग मे हम उस समाज को चाहते है जो न्याय प्रिय एव मानवीय गुणो से ओत-प्रोत हो, जिसमे युद्ध का निषेध कर दिया गया हो और जिसमे व्यक्ति अपनी इच्छाओं की सतुष्टि प्राप्त कर सकें तो हमे अलगाव और स्वार्थ से उभर उठना होगा। एक सुनहला भविष्य और सुखद भाग्य मानवजाति की प्रतीक्षा कर रहा है बशर्ते कि वह उसके साधनों को सबके

लाभ के लिये नियन्त्रित कर सके। यदि समाज को जीवित रखना है तो लाभ प्राप्त करने के इच्छुक समाज की घृणित स्वार्थपरता को, और होड़ के युग को त्यागना होगा। केवल आवश्यकता के नियम को मान्यता प्रदान करके ही हम निजी जीवन को पूर्ण बना सकते हैं और अपने स्वतन्त्र विकास के द्वारा स्वयं प्राप्त कर सकते हैं, और नियम यह है कि आने वाले युग में ही उसे पूर्ण एवं सन्तोषप्रद जीवन प्राप्त होगा और जो सबकी सेवा करेगा आधुनिक युग के नियम को मान्यता देगा। किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि व्यक्ति का कोई महत्व नहीं है और उसका अपना कोई जीवन नहीं है, केवल मशीन का वह एक पुर्जा मात्र है। वह मशीन का दास नहीं है बल्कि वह मशीन को स्वयं अपनी और समाज की भलाई के लिये विवेक से चला सकता है बशर्ते कि उसमें सामाजिक चेतना हो और उसने अपने वातावरण और उसकी समस्या को स्वीकार कर लिया हो और समुदाय के जीवन में अपने को अभिन्न समझ लिया हो। यह उसे दूसरों के कहने से नहीं बल्कि अपनी निजी स्वतन्त्र इच्छा से करना होगा। यह मशीन उन लोगों द्वारा नहीं चलाई जाएगी जो पद में मदान्ध हैं बल्कि उनके द्वारा जिनमें मानवता की भावना है और सेवा का भाव।

अन्य लोगों के प्रति स्वेच्छित एवं ईर्ष्यारहित सेवा भाव एक उत्तम गुण है तथा हम उसका अनुमोदन करते हैं परन्तु उस की समानता उन लोगों के व्यक्तिगत बलिदान से नहीं करना चाहिए जो किसी तानाशाह की आज्ञा से किया गया हो, जो अपनी इच्छापूर्ति के लिये किसी जाति को मिटा सकता है, जिससे उसकी शक्ति के विचारों की मान रहे। किसी व्यक्ति को तुच्छ नहीं समझना चाहिए बल्कि उसके विपरीत उसके व्यक्तित्व को समुचित आदर प्रदर्शित करना चाहिए तथा उसके पूर्ण विकास के लिए सुअवसर प्रदान करना चाहिए। परन्तु यह तभी सम्भव है जब कि एक नवीन मानव संस्कृति के किनारे खड़ा हुआ व्यक्ति अनुभव करे कि हम तभी अपने गन्तव्य की प्राप्ति कर सकते हैं जब हम अपने नैतिकता तथा मानव व्यवहार के सिद्धान्तों को बदलें तथा सामूहिक नैतिकता को सर्वोपरि मानें। हमको अनुभव करना चाहिए कि पूर्ण सफलता की प्राप्ति व्यक्ति की सफलता पर निर्भर करती है तथा इस अनुभूति के साथ कि हम एक नए समाज के स्रष्टा हैं जिस में सहस्रों प्राणी

इतिहास मे प्रथम बार एक उत्तम मानवता का अस्तित्व अनुभव करेंगे, हमे प्रसन्नता महसूस करनी चाहिए। सहस्रो प्राणी जो युगो से जानवरो की तरह अपना अस्तित्व बनाए थे, एक नवीन स्तर पर लाए जाएगे तथा एक नवीन स्वतन्त्रता अर्जित करेंगे। जो कुछ व्यक्तिगत रूप मे उस से छीना गया, उसको वापस हो जायगा तथा इस प्रकार उसके विराग का अन्त होगा।

परन्तु यह सब अर्जित करने के लिये एक नवीन जाति के अस्तित्व की आवश्यकता होगी जो समाज का सार होगी। वे एक नवीन युग एव सस्कृति के अग्रगण्य होगे। उनके वातावरण का एक नवीन दृष्टिकोण होगा, मानवता की वर्तमान शोचनीय परिस्थिति के प्रति जागरुकता, तथा उसके उपचार के ज्ञान की आवश्यकता होगी। अध्यात्मिकता के विश्व मे और भी विषमताए हैं। यह वस्तुत एक मानव समस्या है। वे परिस्थितियाँ जिन मे समानता, सामाजिक न्याय तथा शान्ति का परिचय अथवा ज्ञान हो सकता है, वर्तमान है। केवल मनुष्य को उन साधनो को प्रयोग मे लाने का ज्ञान प्राप्त करना है जो जन हित मे हो।

वर्तमान सामाजिक व्यवस्था ने मनुष्य को एक विशेष दिशा मे मोड कर, शक्तिहीन तथा व्यक्तित्वहीन करके दास बना दिया है। आज व्यक्ति एक मशीन से सम्बद्ध मात्र है। कार्यकर्ता अपने परिश्रम के यन्त्र का मालिक नही है। उसे अपने कार्य मे प्रसन्नता नही होती। उसके लिये यह रूखा एव निस्सार अस्तित्व है। वह अपनी क्षुद्रता के प्रति खूब जागरुक है। वह अनुभव करता है कि जीवन मे जैसे उसे कोई भाग नही लेना है। इसके द्वारा उसके मन मे सामाजिक समस्याओ के प्रति निराशा, उदासीनता एव उपेक्षा की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। इस अस्वस्थ परिस्थिति ने उन विश्वासो तथा धर्मो को व्यापक बना दिया है जिन्होंने वर्तमान समस्याओं का समाधान निकालने के बजाय उन को और जटिल बना दिया। वे हमको उन समस्याओ पर विजय पाने के लिए न तो उत्साहित करती हैं और न इस ओर हमारा विश्वास स्थिर होने देती है। विश्व युद्ध से पीडित लोग जो नि सहाय हैं, पुराने धर्मो मे ही सान्त्वना ढूढते हैं और उनके दृष्टिकोण जो वर्तमान वातावरण मे अपनी महत्वहीनता खो चुके है तथा जो ऐसी दशा मे न तो किसी नई विचारधारा को जन्म दे पाने के योग्य है और न उस ओर मुडने की स्थिति मे है, अब केवल निराशावादी

पुनश्च सर्वसाधारण को समाज के वर्तमान रवैये के प्रति जागरुक बनाना चाहिए और उसको बताना चाहिए कि केवल सहकारी प्रयत्नो और अपने सकीर्ण स्वार्थी हितो को समाज के हितो के अधीन रखने के द्वारा ही सबके लिये अच्छे जीवन की दशाएँ सृजित की जा सकती है।

एक पूर्ण जीवन इसी प्रकार के समाज मे सम्भव है जिसमे व्यक्ति को अपने नैतिक, मानसिक, कलात्मक जीवन को प्रकट करने का पूर्ण एव स्वतत्र क्षेत्र प्राप्त हो। इस प्रकार के समाज के लिये पहले आधार रखना होगा और एक स्वस्थ वातावरण बनाना होगा जिससे कि साधारण व्यक्ति निर्धनता एव असुरक्षा के भय से बचाया जा सके। केवल इसी प्रकार के भय एव अभावो से रहित वातावरण मे नई सभ्यता पनप सकती है। मानव जाति के ऐतिहासिक विकास मे मानवता इस अगले बडे कदम को उठाने ही वाली है और जिन लोगो ने इस सुन्दरतर विश्व का दिवा-स्वप्न देख लिया है जिसमे से दासता और शोषण का निर्वासन (निष्कासन) कर दिया गया है और जिसमे जीवन का केवल एक महान हित और निष्ठा होगी अर्थात कि वे अपनी शक्तियो का उपयोग करेंगे और अपनी प्रतिभा का प्रयोग सम्पूर्ण मानव जाति की सेवा के लिये करेंगे।

सूझ-बूझ और समझदारी रखने वाले व्यक्ति सर्वस्व निछावर करने की भावना से प्रेरित होकर अपने कार्यों मे सलग्न हो जायेंगे और चहु ओर मानवीय एकता और सहकारिता के प्रयत्नो का सदेश प्रसारित करेंगे। सभी जातीय और राष्ट्रीय बन्धनो को समूल नष्ट करना होगा और मानवता को अपने गहन सम्बन्धो को अनुभव करना होगा यदि उसे अपने आपको पूर्ण नष्ट होने से बचाना है। यह हमारा सौभाग्य है कि हम एक ऐसे युग मे रह रहे है जिसमे सर्वसाधारण की भलाई के लिये अत्यधिक सम्भावनायें हैं, और जिन व्यक्तियो मे देखने की क्षमता है वह हमारे सामने ही चलने वाले नये आन्दो-लन की रूप-रेखा स्पष्ट देख सकते है। हमे दो विकल्प मे से एक को चुनना है कि हम पूर्ण रूप से मानवता की सेवा करेंगे या केवल अपने सकीर्ण और वर्णात्मक हितो की रक्षा करेंगे ? मेरे लिये आज सच्चे जीवन का तात्पर्य सामान्य हित के लिये सामाजिक पुनर्गठन के अर्थपूर्ण आन्दोलन मे सक्रिय भाग लेना है।

अनु०—ओम तिवारी अरुण

मेरे संस्मरण

आचार्य जी के जीवन का
संक्षिप्त विवरण
उन्ही के शब्दों में

मेरा जन्म सम्वत् १९४६ मे कार्तिक शुक्ल अष्टमी को सीतापुर मे हुआ था। हम लोगो का पैतृक घर फैजाबाद मे है, किन्तु उस समय मेरे पिता श्री बलदेव प्रसाद जी सीतापुर मे वकालत करते थे। हमारे खानदान मे सबसे पहले अंग्रेजी शिक्षा प्राप्त करने वाले व्यक्ति मेरे दादा के छोटे भाई थे। अवध मे अंग्रेजी हुकूमत सन् १८५६ मे कायम हुई। वह पुराने कैनिंग कालेज मे अध्यापक का कार्य करते थे। उन्होने मेरे पिता और मेरे ताऊ को अंग्रेजी शिक्षा दी। पिता जी ने कैनिंग कालेज से एफ० ए० कर वकालत की परीक्षा पास की थी। आखो की बीमारी के कारण वे बी० ए० नही कर सके। मेरे बाबा उनको कानून की पुस्तकें सुनाया करते थे और सुन-सुन कर ही उन्होने परीक्षा की तैयारी की थी। वकालत पास करने पर वे सीतापुर मे बाबा के शिष्य मुशी मुरलीधर जी के साथ वकालत करने लगे। दोनो सगे भाई की तरह रहते थे। दोनो की आमदनी और खर्च एक ही जगह से होते थे। मुशीजी के कोई सतान न थी। वे अपने भतीजे को पुत्र के समान मानते थे। मेरे जन्म के लगभग दो वर्ष बाद मेरे दादा की मृत्यु हो जाने के कारण पिता जी को सीतापुर छोडना पडा और वे फैजाबाद मे वकालत करने लगे।

जब वे सीतापुर मे थे, तभी उनकी धार्मिक प्रवृत्ति शुरू हो गयी थी। किसी सन्यासी के प्रभाव मे आने से ऐसा हुआ था। वे बडे दानशील और सात्विक वृत्ति के थे। वेदान्त मे उनकी बडी अभिरुचि थी और इस शास्त्र का उनको अच्छा ज्ञान था। वे सन्यासियो का सत्सग सदा किया करते थे। जिस समय उन्होने शिक्षा प्राप्त की थी, उस समय फारसी का प्रचलन था। किन्तु अपनी

संस्कृति और धर्म का ज्ञान प्राप्त करने के लिये उन्होंने संस्कृति का अभ्यास किया था। वे एक नामी वकील थे, किन्तु वकालत के अतिरिक्त भी उनकी अनेक दिलचस्पिया थी। बालको के लिए उन्होने अग्रेजी, हिन्दी और फारसी मे पाठ्य पुस्तकें लिखी थीं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कई सग्रह-ग्रंथ भी प्रकाशित किये थे। अग्रेजी की प्राइमर तो इन्होने मेरे बडे भाई को पढाने के लिए लिखी थी। मेरा विद्यारम्भ इन्ही पुस्तको मे हुआ था। उनको मकान बनाने और बाग लगाने का बडा शौक था। हमारे घर पर एक छोटा सा पुस्तकालय भी था। जब मैं बडा हुआ तो गर्मी की छुट्टियो मे इनकी देखभाल भी किया करता था। मैं ऊपर कह चुका हू कि मेरे पिता जी धार्मिक थे। और इस नाते सनातन धर्म के उपदेशक, सन्यासी और पडित मेरे घर पर प्राय आया करते थे, किन्तु पिता जी काग्रेस और सोशल कान्फरेन्स के कामो मे भी थोडी बहुत दिलचस्पी लेते थे। मेरे प्रथम गुरु थे पडित कालीदीन अवस्थी। वे हम भाई-बहनो को हिन्दी, गणित और भूगोल पढाया करते थे। पिता जी मुझसे विशेषरूप से स्नेह करते थे। वे भी मुझे नित्य आध घटा पढाया करते थे। मैं उनके साथ प्राय कचहरी जाया करता था। मुझे याद है कि वे मुझे अपने साथ एक बार दिल्ली ले गये थे। वहा भारत धर्ममहामडल का अधिवेशन हुआ था। उस अवसर पर पडित दीनदयालु शर्मा का भाषण सुनने को मिला था। उस समय उसके मूल्य को आकने की मुझमे बुद्धि न थी। केवल इतना याद है कि शर्मा जी की उस समय बडी प्रसिद्धि थी।
मैंने घर पर तुलसीकृत रामायण और समग्र हिन्दी महाभारत पढा। इनके अतिरिक्त बैताल पच्चीसी, सिंहासन बत्तीसी, सूरसागर आदि पुस्तके भी पढी। उस समय चन्द्रकान्ता की बडी शोहरत थी। मैंने इस उपन्यास को १६ बार पढा होगा। चन्द्रकाता सतति को, जो २४ भाग में है, एक बार पढा था। न मालूम कितने लोगों ने चन्द्रकान्ता पढने के लिए हिन्दी सीखी होगी उस समय कदाचित इन्ही पुस्तकों का पठन-पाठन हुआ करता था। १० वर्ष की उम्र मे मेरा यज्ञोपवीत सस्कार हुआ। पिता के साथ नित्य मैं सन्ध्या-वन्दन और भगवत्गीता का पाठ करता था। एक महाराष्ट्र ब्राह्मण मुझको सस्वर वेदपाठ सिखाते थे और मुझको एक समय रुद्री और सम्पूर्ण गीता कठस्थ थी। मैंने अमरकोश और लघुकोमुदी भी पढी थी। जब मैं १० वर्ष का था। अर्थात् सन् १८९९ मे लखनऊ मे काग्रेस का अधिवेशन हुआ था। पिता जी

डेलीगेट थे। मैं भी उनके साथ गया था। उस समय के डेलीगेट का "बैज" होता था कपड़े का फूल। मैंने भी दरजी से वैसा ही एक फूल बनवा लिया और उसको लगा कर अपने चाचाजात भाई के साथ "विजिटर्स गैलरी" में जा बैठा। उस जमाने में प्राय भाषण अंग्रेजी में ही होते थे और यदि हिन्दी में होते तब भी मैं कुछ ज्यादा न समझ सकता। ऐसी अवस्था में सिवा शोरगुल मचाने के मैं कर ही क्या सकता था। दर्शकों ने तंग आकर मुझे डाटा और पंडाल से भाग कर मैं बाहर चला आया। उस समय मैं कांग्रेस के महत्व को क्या समझ सकता था। किन्तु इतना मैं जान सका कि लोकमान्य तिलक, श्री रमेशचन्द्र दत्त और जस्टिस रानाडे देश के बड़े नेताओं में से थे। इनका दर्शन मैंने प्रथम बार वहीं किया। रानाडे महाशय की तो सन् १९०१ में मृत्यु हो गयी। दत्त महाशय का दर्शन दोबारा सन् १९०६ में कलकत्ता कांग्रेस के अवसर पर हुआ।

मैं सन् १९०२ में स्कूल में भर्ती हुआ। सन् १९०४ या १९०५ में मैंने थोड़ी बंगला सीखी और मेरे अध्यापक मुझको कृत्तिवास की रामायण सुनाया करते थे। पिता जी का मेरे जीवन पर बड़ा गहरा असरपड़ा। उनकी सदा शिक्षा थी कि नौकरों के साथ अच्छा व्यवहार किया करो, उनको गाली गलौज न दो। मैंने इस शिक्षा का सदा पालन किया। विद्यार्थियों में सिगरेट पीने की बुरी प्रथा उस समय भी थी। एक बार मुझे याद है कि अयोध्या में कोई मेला था। मैंने शौकिया सिगरेट की एक डिबिया खरीदी। सिगरेट जलाकर जो पहला कश खींचा तो सिर घूमने लगा। इलायची पान खाने पर तबियत संभली। मुझे आश्चर्य हुआ कि लोग क्यों सिगरेट पीते हैं। मैंने उस दिन से आज तक सिगरेट नहीं छुआ। हाँ, श्वास के कष्ट को कम करने के लिए कभी-कभी स्टेमोनियम के सिगरेट पीने पड़े हैं। मेरे पिता सदा आदेश दिया करते थे कि कभी झूठ न बोलना चाहिये। मुझे इस सम्बन्ध में एक घटना याद आती है। मैं बहुत छोटा था। कोई सज्जन मेरे मामू को पूछते हुए आये। मैं घर के अन्दर गया। मामू से कहा कि आपको कोई बाहर बुला रहा है। उन्होंने कहा कि जाकर कह दो कि घर में नहीं हैं। मैंने उनसे यह संदेश ज्यों का त्यों कह दिया। मेरे मामू बहुत नाराज हुए। मैं अपनी सिधाई में यह भी न समझ सका कि मैंने कोई अनुचित काम किया है। इससे यह नतीजा न निकालें कि मैं बड़ा सत्यवादी हूं किन्तु इतना सच है कि मैं झूठ कम बोलता

हूं। ऐसा जब कभी होता है तो लज्जित होता हूं और बहुत देर तक सन्ताप बना रहता है। पिता जी की शिक्षा चेतावनी का काम करती है। मैं ऊपर कह चुका हू कि मेरे यहा अक्सर साधु-सन्यासी और उपदेशक आया करते थे। मेरे पिता के एक स्नेही थे। उनका नाम था पडित माधवप्रसाद मिश्र। वे महीनो हमारे घर पर रहा करते थे। वे बंगला भाषा अच्छी तरह जानते थे। उन्होने "देशेर कथा" का हिन्दी मे अनुवाद किया था। यह पुस्तक जब्त कर ली गयी थी। वे हिन्दी के बड़े अच्छे लेखक थे। वे राष्ट्रीय विचार के थे। मैं इनके निकट सम्पर्क मे आया। मेरा घर का नाम "अविनाशीलाल" था। पुराने परिचित आज भी इसी नाम से पुकारते हैं। मिश्र जी पर बगला भाषा का अच्छा प्रभाव था। उन्होने हम सब भाइयो के नाम बदल दिये। उन्होने ही मेरा नाम "नरेन्द्रदेव" रखा। सनातन धर्म पर प्राय व्याख्यान मेरे घर पर हुआ करते थे। सन् १९०६ मे जब मैं एण्ट्रेन्स मे पढता था, स्वामी रामतीर्थ का फैजाबाद आना हुआ और हमारे अतिथि हुए। उस समय वे केवल दूध पर रहते थे। शहर मे उनका एक व्याख्यान ब्रह्मचर्य पर हुआ था और दूसरा व्याख्यान वेदान्त पर मेरे घर पर हुआ था। उनके चेहरे पर बडा तेज था। उनके व्यक्तित्व का मुझ पर बडा प्रभाव पड़ा और बाद को मैंने उनके ग्रथो का अध्ययन किया। वे हिमालय की यात्रा करने जा रहे थे। मिश्र जी ने उनसे कहा कि सन्यासी को किसी सामग्री की क्या आवश्यकता, इतना कहना था कि वे अपना सारा सामान छोडकर चले गये और पहाड से उनकी चिट्ठी आई कि "राम खुश है।"

हमारे स्कूल मे एक बडे योग्य शिक्षक थे। उनका नाम था श्री दत्तात्रेय भीकाजी रानाडे। उनका मुझ पर बडा प्रभाव पडा। उनके पढने का ढग निराला था। उस समय मैं ८ वी कक्षा में था। किन्तु अग्रेजी व्याकरण में हमारे दर्जे के विद्यार्थी १०वीं कक्षा के विद्यार्थियो के कान काटते थे। मैं अपनी कक्षा मे सर्वप्रथम हुआ करता था। मेरे गुरुजन भी मुझसे प्रसन्न रहते थे। किन्तु सस्कृत के पडित महाशय अकारण मुझसे और मेरे सहपाठियो से नाराज हो गये और उन्होने वार्षिक परीक्षा मे हम लोगो को फेल करने का इरादा कर लिया। हम लोग बडे परेशान हुए। उस समय मेरी कक्षा के अध्यापक मास्टर राधेरमणलाल स्कूल लाइब्रेरियन थे। इनका भी हम लोगो पर बहुत अच्छा

प्रभाव पडा था। अपने जीवन मे एक बार यह विरक्त हो गये थे। इनके घर पर हम लोग प्राय. जाया करते थे। यह अपने विद्यार्थियों को बहुत मानते थे। लाइब्रेरी की कुजी मेरे सुपुर्द थी और मैं ही पुस्तकें निकाल कर दिया करता था। मुझे याद आया कि पडित जी दो वर्ष के कलैंडर अपने नाम ले गये है। खयाल आया कही इन्ही वर्षों के एंट्रेन्स के प्रश्न पत्र से प्रश्न पूछ बैठें। मैंने अपने सहपाठियो के साथ बैठकर उन प्रश्नपत्रो को हल किया। देखा गया कि उन्ही प्रश्नपत्रों से सब प्रश्न पूछे गये है। परीक्षा भवन में पडित जी ने मुझसे पूछा कि कहो कैसा कर रहे हो? मैंने उत्तेजित होकर कहा कि जीवन मे ऐसा अच्छा परचा कभी नही किया। उन्होने कोर्स के बाहर के भी प्रश्न पूछे थे। मुझे विवश होकर ५० मे से ४६ अक देने पडे और कोई भी विद्यार्थी फेल नही हुआ। यदि मे लाइब्रेरीयन महाशय का सहायक न होता तो अवश्य फेल हो गया होता।

सन् १९०५ मे पिता जी के साथ मैं बनारस काग्रेस मे गया। पिता जी के सपर्क में आने से मुझे भारतीय संस्कृति से प्रेम हो गया था। उनका ज्ञान तो कुछ था नही, किंतु इस कारण आगे चलकर मैंने एम० ए० मे सस्कृत ली। सन् १९०४ मे पूज्य मालवीय जी फैजाबाद आये थे। भारत धर्म महामडल से सबन्ध होने के नाते वह मेरे पिता जी से मिलने घर पर आये। गीता के एकाध अध्याय सुने। वे मेरे शुद्ध उच्चारण से बहुत प्रसन्न हुए और कहा कि एंट्रेन्स पास कर प्रयाग आना और मेरे हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे रहना। पूज्य मालवीय जी के दर्शन प्रथम बार हुए थे। उनका सौम्य चेहरा और मधुर भाषण अपना प्रभाव डाले बिना रहता नही था। यद्यपि मैंने सैन्ट्रल हिन्दू कालेज मे नाम लिखाने का विचार किया था, किंतु साथियो के कारण उस विचार को छोडना पड़ा। एंट्रेस पास कर मैं इलाहाबाद पढने गया। और हिन्दू बोर्डिंग हाउस मे रहने लगा। मेरे ३-४ सहपाठी थे। हमको एक बडे कमरे मे रखा गया। छात्रावास मे ठहरने का यह पहला अवसर था।

बग भग के कारण काग्रेस में एक नये दल का जन्म हुआ था, जिसके नेता लोकमान्य तिलक, श्री विपिनचन्द्र पाल आदि थे। उस समय तक मेरे कोई खास राजनीतिक विचार न थे, किंतु काग्रेस के प्रति आदर और श्रद्धा का भाव था। मैं सन् १९०५ मे दर्शक के रूप मे काग्रेस मे शरीक हुआ था।

प्रिंस आव वेल्स भारत आने वाले थे उनका स्वागत करने के लिये एक प्रस्ताव गोखले ने कांग्रेस के सम्मुख रखा था। तिलक ने उनका घोर विरोध किया। अन्त मे दवाव मे उन्हे वापिस ले लिया, किन्तु उसी समय पंडाल से बाहर चले आये। विरोध की यह ध्वनि सुनाई पडी। सन् १९०६ मे कलकत्ते मे कांग्रेस का अधिवेशन हुआ। प्रयाग आने पर मेरे विचार तेजी से बदलने लगे। हिन्दू बोर्डिंग हाउस उग्र विचारो का केन्द्र था। पंडित सुन्दरलाल जी उस समय विद्यार्थियो के अगुवा थे। अपने राजनीतिक विचारो के कारण वे विश्वविद्यालय से निकाले गये। उस समय बोर्डिंग हाउस मे रात-दिन राजनीतिक चर्चा हुआ करती थी। मैं बहुत जल्दी गरम दल के विचार का हो गया हममे से कुछ लोग कलकत्ते के अधिवेशन मे शरीक हुए। रिपन कालेज मे हम लोग ठहराये गये। नरम-गरम दल का संघर्ष चल रहा था और यदि श्री दादाभाई नौरोजी सभापति न होते तो वही दो टुकडे हो गये होते। उनके कारण यह संकट टला। इस नवीन दल के कार्यक्रम के प्रधानअंग थे स्वदेशी। विदेशी माल का वहिष्कार और राष्ट्रीय शिक्षा। कांग्रेस का लक्ष्य बदलने की भी वातचीत थी। दादाभाई नौरोजी ने अपने भाषण मे 'स्वराज्य' शब्द का प्रयोग किया और इस शब्द को लेकर दोनों दल मे विवाद खडा हो गया। यद्यपि पुराने नेता वहिष्कार के विरुद्ध थे। उनका कहना था कि इससे विद्वेष और घर्षों का भाव फैलता है, तथापि बंगाल के लिए उनको भी इसे स्वीकार करना पडा।

जापान की विजय से एशिया मे जन-जागृति का आरंभ हुआ। एशिया वासियो ने अपने खोये हुए आत्म-विश्वास को फिर से पाया और अंग्रेजो की ईमानदारी पर जो बालोचित विश्वास था वह उठने लगा। इस पीढी का अंग्रेजी शिक्षित वर्ग समझता था कि अंग्रेज हमारे कल्याण के लिये भारत आया है और हमको शासन के कार्य मे दक्ष बना देगा, तब वह स्वेच्छा से राज्य सौंपकर चला जायगा। बिना इस विश्वास को दूर किये राजनीति मे प्रगति आ नही सकती थी। लोकमान्य तिलक ने यही काम किया। इस नये दल की स्थापना की घोषणा कलकत्ते मे की गयी। इसकी ओर से कलकत्ते मे दो सभाएं हुई। एक सभा बडा बाजार मे हुई थी। उसमे भी मैं मौजूद था। इस सभा की विशेषता यह थी कि इसमे सब भाषण हिंदी मे हुए थे। श्री विपिन-चन्द्रपाल और लोकमान्य तिलक भी हिंदी मे बोले थे। श्री पाल को हिंदी बोलने मे कोई

विशेष कठिनाई नही प्रतीत हुई, किंतु लोकमान्य की हिंदी टूटी-फूटी थी। बडा बाजार मे उत्तर भारत के लोग अधिकतर रहते है। उन्ही की सुविधा के लिए हिंदी मे भाषण कराये गए थे। बगाल मे इस नये दल का अच्छा प्रभाव था। कलकत्ते की काग्रेस के बाद सयुक्त प्रात को सर करने के लिए दोनो दलो मे होड लग गयी। प्रयाग मे दोनो दलो के बडे नेता आये और उनके व्याख्यानो को सुनने का मुझे अवसर मिला। सबसे पहले लोकमान्य आये। उनके स्वागत के लिये हम लोग स्टेशन पर गये। उनकी सभा का आयोजन थोडे से विद्यार्थियो ने किया था। शहर के नेताओ मे से कोई उनके स्वागत के लिए नही गया। उनकी सवारी के लिए एक सज्जन घोडा गाडी लाये थे। हम लोगो ने घोडा खोल कर स्वय गाडी खीचने का आग्रह किया किंतु उन्होने स्वीकार नही किया। लोकमान्य के शब्द थे—"इस उत्साह को किसी और अच्छे काम के लिए सुरक्षित रखिये।" एक वकील साहब के अहाते मे उनका व्याख्यान हुआ था। वकील साहब इलाहाबाद से बाहर गये हुए थे। उनकी पत्नी ने इजाजत दे दी थी। हम लोगो ने दरी बिछायी। एक विद्यार्थी ने 'बन्दे-मातरम्' गाना गाया और अग्रेजी मे भाषण शुरू हुआ। लोकमान्य तर्क और युक्ति से काम लेते थे। उनके भाषण मे हास्य-रस का भी पुट रहता था। किंतु वह भावुकता से बहुत दूर थे। उन्होने कहा कि अग्रेजी मसल है कि ईश्वर उसी की सहायता करता है जो अपनी सहायता करता है। तो क्या तुम समझते हो कि अग्रेज ईश्वर से भी बडा है? इसके कुछ दिनो बाद श्री गोखले आए और उनके कई व्याख्यान कायस्थ पाठशाला मे हुए। एक व्याख्यान मे उन्होने कहा कि आवश्यकता पडने पर हम और टैक्स देना भी बन्द कर सकते है। इसके बाद भी विपिनचन्द्र पाल आए और उनके ४ ओजस्वी व्याख्यान हुए। इस तरह समय-समय पर किसी न किसी दल के नेता प्रयाग आते रहते थे। लाला लाजपतराय और हैदरजा भी आए। नरम दल के नेताओ मे केवल श्री गोखले का कुछ प्रभाव हम विद्यार्थियो पर पडा। हम लोगो ने स्वदेशी का व्रत लिया और गरम दल के अखबार मगाने लगे। कलकत्ते से दैनिक 'बन्दे-मातरम्' आता था, जिसे हम बडे चाव से पढा करते थे। इसके लेख बडे प्रभावशाली होते थे। श्री अरविन्द घोष इसमे प्राय लिखा करते थे। उनके लेखो ने विशेष रूप से प्रभावित किया। शायद ही उनका कोई लेख होगा जो मैंने न पढा हो और जिसे दूसरो को न पढाया हो। पाडिचेरी जाने के बाद

उनका प्रभाव कायम रहा और मैं 'आर्य' का वर्षों ग्राहक रहा। बहुत दिनों तक यह आशा थी कि वह साधना पूर्ण करके बंगाल लौटेंगे और राजनीति में पुनः प्रवेश करेंगे। सन् १९२१ में उनसे ऐसी प्रार्थना भी की गयी थी, किंतु उन्होंने अपने भाई वीरेन्द्र को लिखा कि सन् १९०८ के अरविन्द को बंगाल चाहता है, किंतु मैं सन् १९०८ का अरविन्द नहीं रहा। यदि मेरे ढंग के ९९ भी कभी तैयार हो जाय तो मैं आ सकता हूं। बहुत दिनो तक मुझे यह आशा बनी रहीं, किन्तु अन्त मे जब मैं निराश हो गया तो उधर से मुंह मोड लिया। उनके विचारों में ओज के साथ-साथ सच्चाई थी। प्राचीन सस्कृति के भक्त होने के कारण भी उनके लेख मुझे विशेष रूप से पसन्द आते थे। उनका जीवन बडा सादा था। जिन्होंने अपनी पत्नी को लिखे उनके पत्र पढे हैं, वे इसको जानते हैं। उनके सादे जीवन ने मुझको बहुत प्रभावित किया। उस समय लाला हरदयाल अपनी छात्रवृत्ति को छोड कर विलायत से लौट आये थे। उन्होंने सरकारी विद्यालयो मे दी जाने वाली शिक्षा प्रणाली का विरोध किया था और 'हमारी शिक्षा-समस्या' पर १४ लेख पजाबी मे लिखे। उनके प्रभाव मे आकर पजाब के कुछ विद्यार्थियो ने पढना छोड दिया था। उनके पढाने का भार उन्होंने स्वय लिया था। ऐसे विद्यार्थियों की संख्या बहुत थोडी थी। हरदयाल जी बडे प्रतिभाशाली थे और उनका विचार था कि कोई बडा काम बिना कठोर साधना के नहीं होता। एडविन् आरनोल्ड की 'लाइट आफ एशिया' को पढकर वह बिलकुल बदल गए थे। विलायत मे श्री श्यामजी कृष्ण वर्मा का उन पर प्रभाव पडा था। उन्होंने विद्यार्थियों के लिए दो पाठ्यक्रम तैयार किये थे। इन सूचियो की पुस्तको को पढना मैंने आरभ किया। उग्र विचार के विद्यार्थी उस समय रूस-जापान युद्ध, गेरीबाल्डी और मैजनी पर पुस्तकें और रूस के आतकवादियो के उपन्यास पढा करते थे। सन् १९०७ मे प्रयाग से रामानन्द बाबू का 'माडर्न रिव्यू' भी निकलने लगा। इसका बडा आदर था। उस समय हम लोग प्रत्येक बगाली नवयुवक को क्रातिकारी समझते थे। बगला-साहित्य मे इस कारण और भी रुचि उत्पन्न हो गयी। मैंने रमेशचन्द्र दत्त और बकिम के उपन्यास पढे और बगला-साहित्य थोडा बहुत समझने लगा। स्वदेशी के व्रत में हम पूरे उतरे। उस समय हम कोई भी विदेशी वस्तु नहीं खरीदते थे। माघ-मेला के अवसर पर हम स्वदेशी पर व्याख्यान भी दिया करते थे। उस समय म्योर कालेज के प्रिंसिपल जेनिंग्स साहब थे। वह कट्टर

एंग्लो-इंडियन थे। हमारे छात्रावास मे एक विद्यार्थी के कमरे मे खुदीराम बसु की तसवीर थी। किसी ने प्रिंसिपल को इसकी सूचना दे दी। एक दिन शाम को वह आये और सीधे मेरे मित्र के कमरे मे गए। मेरे मित्र कालेज से निकाल दिये गये, किंतु श्रीमती एनी बेसेन्ट ने उनको हिंदू कालेज मे भरती कर लिया।

धीरे-धीरे हम मे कुछ का क्रान्तिकारियो से सम्बन्ध होने लगा। उस समय क्रान्तिकारियो का विचार था कि आई० सी० एस० मे शामिल होना चाहिये, ताकि क्रान्ति के समय हम जिले का शासन सभाल सकें। इस विचार से मेरे ४ साथी इगलैंड गये। मैं भी सन् १९११ मे जाना चाहता था, किन्तु माता जी की आज्ञा न मिलने के कारण न जा सका। इधर सन् १९०७ मे सूरत मे फूट पड चुकी थी। और कांग्रेस के गरम दल के लोग निकल आये थे। कन्वेन्शन बुलाकर कांग्रेस का विधान बदल गया। इसे गरम दल के लोग कन्वेशन कांग्रेस कहते थे। गवर्नमेट ने इस फूट से लाभ उठाकर गरम दल को छिन्न-भिन्न कर दिया। कई नेता जेल में डाल दिए गए। कुछ समय को प्रतिकूल देख भारत से बाहर चले गये और लदन, पेरिस, जिनेवा और बर्लिन मे क्रांति के केन्द्र बनाने लगे और वहाँ से ही साहित्य प्रकाशित होता था। मेरे जो साथी विलायत पढने गये थे, वह इस साहित्य को मेरे पास भेजा करते थे। श्री सावरकर की 'वार आफ इंडियन इनडिपेण्डेन्स' की एक प्रति भी मेरे पास आयी थी। और मुझे बराबर हरदयाल का 'वन्दे मातरम्' बर्लिन का 'तलवार' और पेरिस का 'इंडियन सोशलाजिस्ट' मिला करता था। मेरे दोस्तो मे से एक सन् १९०८ की लडाई मे जेल मे बन्द कर दिये गये थे तथा अन्य दोस्त केवल बैरिस्टर होकर लौट आये। मैंने सन् १९०८ के बाद से कांग्रेस के अधिवेशनो मे जाना छोड दिया, क्योकि हम लोग गरम दल के साथ थे। यहा तक कि जब कांग्रेस का अधिवेशन प्रयाग मे हुआ, तब भी हम उसमे नही गये। सन् १९१६ मे जब कांग्रेस मे दोनो दलो का मेल हुआ तब हम फिर कांग्रेस मे आ गए।

बी० ए० पास करने के बाद मेरे सामने यह प्रश्न आया कि मैं क्या करू। मैं कानून पढना नही चाहता था, मैं प्राचीन इतिहास मे गवेषणा करना चाहता था। म्योर कालेज मे भी अच्छे-अच्छे अध्यापको के सम्पर्क मे आया। डाक्टर गगानाथ झा की मुझ पर बडी कृपा थी। बी० ए० मे प्रोफेसर ब्राउन से इतिहास पढा। भारत के मध्य युग का इतिहास वह बहुत अच्छा जानते थे।

पढाते भी अच्छा थे। उन्ही के कारण मैने इतिहास का विषय लिया। बी०ए० पास कर मैं पुरातत्व पढने काशी चला गया। वहा डाक्टर वेनिस और नारमन ऐसे सुयोग्य अध्यापक मिले। क्वीस कालेज मे जो अग्रेज अध्यापक थे, वह सस्कृत सीखने का प्रयत्न करते थे। डाक्टर वेनिस ऐसा पढाने वाला कम होगा। नारमन साहब के प्रति भी मेरी बडी श्रद्धा थी। जब मैं क्वीस कालेज मे था, तब वहा श्री शचीन्द्रनाथ सान्याल से परिचय हुआ। विदेश से आने वाला साहित्य वह मुझसे ले जाया करते थे। उनके द्वारा मुझे क्रान्तिकारियो के समाचार मिलते रहते थे। इन लोगो के साथ बडी सहानुभूति थी। किन्तु मैं डकैती आदि के सदा विरुद्ध था। मैं किसी भी क्रान्तिकारी दल का सदस्य न था। किन्तु उनके कई नेताओ से परिचित था। वे मुझ पर विश्वास करते थे और समय समय पर मेरी सहायता भी लेते रहते थे। सन् १९१३ मे जब मैंने एम० ए० पास किया तब मेरे घरवालो ने वकालत पढने का आग्रह किया। मैं इस पेशे को पसन्द नही करता था, किंतु जब पुरातत्व-विभाग मे स्थान न मिला, तब इस विचार से कि वकालत करते हुए मैं राजनीति मे भाग ले सकूंगा, मैंने कानून पढा।

सन् १९१५ में मैं एल० एल० बी० पास कर वकालत करने फैजाबाद आया। मेरे विचार प्रयाग मे परिपक्व हुए और वही मुझको एक नया जीवन मिला। इस नाते मेरा प्रयाग से एक प्रकार का आध्यात्मिक सबध है। मेरे जीवन में सदा दो प्रवृत्तियाँ रही है—एक पढने लिखने की ओर, दूसरी राजनीति की ओर। इन दोनो मे सघर्ष रहता है—यदि दोनो की सुविधा एक साथ मिल जाती है तो मुझे बडा परितोष होता और यह सुविधा मुझे विद्यापीठ मे मिली। इसी कारण वह मेरे जीवन का सबसे अच्छा हिस्सा है जो विद्यापीठ की सेवा मे व्यतीत हुआ और आज भी उसे मैं अपना कुटुब समझता हू।

सन् १९१४ मे लोकमान्य मडले जेल से रिहा होकर आए और अपने सहयोगियो को फिर से एकत्र करने लगे। श्रीमती बेसेण्ट का उनको सहयोग प्राप्त हुआ और होमरुल लीग की स्थापना हुई। सन् १९१६ मे हमारे प्रात मे श्रीमती बेसेण्ट की लीग की स्थापना हुई। मैंने इस सबध मे लोकमान्य से बातें की और उनकी लीग की एक शाखा फैजाबाद मे खोलनी चाही, किंतु उन्होने यह कह कर मना किया कि दोनो के उद्देश्य एक है दो होने का कारण केवल इतना है कि कुछ लोग मेरे द्वारा कायम की गई किसी सस्था मे शरीक

नही होना चाहते और कुछ लोग श्रीमती बेसेण्ट द्वारा स्थापित किसी स्थान मे नही रहना चाहते। मैंने लीग शाखा फैजाबाद मे खोली और उसका मत्री चुना गया। इसकी ओर से प्रचार का कार्य होता था और समय समय पर सभाओ का आयोजन होता था। मेरा सबसे पहला भाषण अलीबन्धुओ की नजरबदी का विरोध करने के लिए आमत्रित सभा मे हुआ था। मैं बोलते हुए बहुत डरता था, किंतु किसी प्रकार बोल गया और कुछ सज्जनो ने मेरे भाषण की प्रसशा की इससे मेरा उत्साह बढा और फिर धीरे-धीरे सकोच दूर हो गया। मैं सोचता हू कि यदि मेरा पहला भाषण बिगड गया होता तो शायद मैं भाषण देने का फिर साहस न करता।

मैं लीग के साथ साथ काग्रेस मे भी था और बहुत जल्दी उसकी सब कमेटियो मे बिना प्रयत्न के पहुच गया। महात्मा जी के राजनीति क्षेत्र मे आने से धीरे धीरे काग्रेस का रूप बदलने लगा। आरभ मे वह ऐसा हिस्सा नही लेते थे, किंतु सन् १९१९ से वह प्रमुख भाग लेने लगे। खिलाफत के प्रश्न को लेकर जब महात्मा जी ने असहयोग आदोलन चलाना चाहा तो असहयोग के कार्य-क्रम के सबध मे लोकमान्य से उनका मतभेद था। जून १९२० मे काशी मे ए० आई० सी० की बैठक के समय मैंने इस सबध मे लोकमान्य से बातें की। उन्होने कहा मैंने अपने जीवन मे कभी सरकार के साथ सहयोग नही किया. प्रश्न असहयोग के कार्यक्रम का है। जेल से लौटने के बाद जनता पर उनका वह पुराना विश्वास नही रह गया था और उनका ख्याल था कि प्रोग्राम ऐसा हो जिस पर जनता चल सके। वह कौंसिल के बहिष्कार के खिलाफ थे। उनका कहना था कि यदि आधी भी जगहे खाली रहे तो यह ठीक है, किंतु यदि वहां जगहे भर जायेंगी तो अपने को प्रतिनिधि कहकर सरकार-परस्त लोग देश का अहित करेंगे।

उनका एक सिद्धात यह भी था कि काग्रेस मे अपनी बात रखो और अत में जो उसका निर्णय हो उसे स्वीकार करो। मैं तिलक का अनुयायी था, इसलिए मैंने काग्रेस मे कौंसिल-बहिष्कार के विरुद्ध दिया, किंतु जब एक बार निर्णय हो गया तो उसे शिरोधार्य किया। वकालत के पेशे मे मेरा मन न था। नागपुर के अधिवेशन मे जब असहयोग का प्रस्ताव पास हो गया तो उसके अनुसार मैंने तुरत वकालत छोड दी। इस निश्चय मे मुझे एक क्षण की भी देर न लगी। मैंने किसी से परामर्श भी नही किया क्योकि मैं काग्रेस के निर्णय से अपने को

बंधा हुआ मानता था। मैंने अपने भविष्य का भी ख्याल नही किया। पिता जी से एक बार पूछना चाहा, किंतु यह सोचकर कि यदि उन्होने विरोध किया तो मैं उनकी आज्ञा का उल्लघन न कर सकूगा, मैंने उनसे भी अनुमति नही मागी। किन्तु पिताजी को जब पता चला तो उन्होने कुछ आपत्ति न की। केवल इतना कहा कि मुझको अपनी स्वतत्र जीविका की कुछ फिक्र करनी चाहिये और जब तक जीवित रहे, मुझे किसी प्रकार की चिंता नही होने दी। असहयोग आदोलन के शुरू होने के बाद एक बार जवाहरलाल नेहरु फैजाबाद आये और उन्होने मुझसे कहा कि बनारस मे विद्यापीठ खुलने जा रहा है। वहा लोग तुम्हे चाहते हैं। मैंने अपने प्रिय मित्र श्री शिवप्रसाद जी को पत्र लिखा। उन्होने मुझे तुरंत बुला लिया। शिवप्रसाद जी मेरे सहपाठी थे और विचार-साम्य होने के कारण मेरी उनकी मित्रता हो गयी। वह बडे उदार हृदय के व्यक्ति थे। दुनिया मे मैंने उन्ही को एक पाया जो नाम नही चाहते थे। क्रातिकारियो की भी वह धन से सहायता करते थे। विद्यापीठ के काम मे मेरा मन लग गया। श्रद्धेय डाक्टर भगवानदास जी ने मुझ पर विश्वास कर मुझे उपाध्यक्ष बना दिया। उन्ही की देख-रेख मे मैं काम करने लगा। मैं दो वर्ष तक छात्रावास मे ही विद्यार्थियो के साथ रहता था। एक कुटुम्ब-सा था। साथ-साथ हम लोग राजनीतिक कार्य भी करते थे। कराची मे जब अलीबन्धुओ को सजा हुई थी, तब हम सब बनारस के गावो मे प्रचार के लिए गये थे। अपना-अपना बिस्तर बगल मे दबा, नित्य पैदल घूमते थे। सन् १९२६ मे डाक्टर साहब ने अध्यक्ष के पद से त्यागपत्र दे दिया और मुझे अध्यक्ष बना दिया। बनारस मे मुझे कई नये मित्र मिले। विद्यापीठ के अध्यापको से मेरा बडा मीठा सम्बन्ध रहा। श्री श्रीप्रकाश जी से मेरा विशेष स्नेह हो गया। यह अत्युक्ति न होगी कि वह स्नेहवश मेरे प्रचारक हो गये। उन्होने मुझे आचार्य कहना शुरू किया, यहा तक कि वह मेरे नाम का एक अग बन गया है। सबमे वह मेरी प्रशसा करते रहते थे। यद्यपि मेरा परिचय जवाहरलाल जी से होमरुल आदोलन के समय मे था, तथापि श्री श्रीप्रकाश जी द्वारा उनमे तथा गणेश जी से मेरी घनिष्टता हुई। मैं उनके घर मे महीनो रहा हू। वह मेरी सदा फिक्र उसी तरह किया करते हैं जैसे माता अपने बालक की। मेरे बारे मे उनकी राय है कि मैं अपनी फिक्र नहीं करता हूं, शरीर के प्रति बडा लापरवाह हू मेरे विचार चाहे उनसे मिलें या न मिलें उनका स्नेह घटता नहीं। रियासती दोस्ती पायदार नहीं

होती, किंतु विचारो मे अतर होते हुए भी हम लोगो के स्नेह मे फर्क नही पड़ा है। पुराने मित्रो मे वियोग दुःखदायी है। किंतु शिष्टता बनी रहे तो सम्बन्ध मे बहुत अतर नही पड़ता। ऐसे मित्र हैं, किंतु बहुत कम।

नेता का मुझ मे कोई भी गुण नही है। महत्वाकाक्षा भी नही है। यह बड़ी कमी है। मेरी बनावट कुछ ऐसी हुई है कि मैं न नेता हो सकता हू और न अन्धभक्त अनुयायी। इसका यह अर्थ नही है कि मैं अनुशासन मे नही रहना चाहता। मैं व्यक्तिवादी नहीं हू। नेताओ की दूर से आराधना करता हूं। उनके पास बहुत कम जाता रहा हू। यह मेरा स्वाभाविक सकोच है। आत्मप्रशसा सुनकर कौन खुश नही होता, अच्छा पद पाकर किसको प्रसन्नता नही होती, किंतु मैंने कभी इसके लिये प्रयत्न नही किया। प्रान्तीय काग्रेस कमेटी के सभापति होने के लिए मैंने अनिच्छा प्रकट की, किन्तु अपने मान्य नेताओं के अनुरोध पर खड़ा होना पड़ा। इसी प्रकार जब पंडित जवाहरलाल नेहरू ने मुझसे कार्यसमिति में आने को कहा, मैंने इन्कार कर दिया किंतु उनके आग्रह करने पर मुझे निमत्रण स्वीकार करना पड़ा।

मैं ऊपर कह चुका हू कि मैं नेता नही हू। इसलिए किसी नये आदोलन या पार्टी का आरम्भ नही कर सकता। सन् १९३४ मे जब जयप्रकाशजी ने समाजवादी पार्टी बनाने का प्रस्ताव रखा और मुझे सम्मेलन का सभापति बनाना चाहा तो मैंने इनकार कर दिया। इसलिए नही कि समाजवाद को नही मानता था, किंतु इसलिए कि मैं किसी बड़ी जिम्मेदारी को उठाना नही चाहता था। उनमें मेरा काफी स्नेह था और इसी कारण मुझे अन्त मे उनकी बात माननी पड़ी। सम्मेलन मई सन् १९३४ मे हुआ था। बिहार मे भूकम्प हो गया था। उस सिलसिले मे विद्यार्थियो को लेकर काम करने गया था। वहा पहली बार डाक्टर लोहिया से परिचय हुआ। मुझे यह कहने मे प्रसन्नता है कि जब पार्टी का विधान बना तो केवल डाक्टर लोहिया और हम इस पक्ष मे थे कि उद्देश्य के अतर्गत पूर्ण स्वाधीनता भी होनी चाहिये। अन्त मे हम लोगो की विजय हुई। श्री मेहरअली से एक बार सन् १९२८ मे मुलाकात हुई थी। बबई के और मित्रो को मै उस समय तक नही जानता था। अपरिचित व्यक्तियो के साथ-साथ काम करते मुझको घबराहट होती है, किंतु प्रसन्नता की बात है कि सोशलिस्टपार्टी के सभी प्रमुख कार्यकर्ता शीघ्र ही एक कुटुम्ब के सदस्य की तरह हो गये।

वो तो अपने सूबे मे बराबर भाषण किया करता था, किंतु अखिल भारतीय काग्रेस मे मैं पहली बार पटने मे बोला। मौलाना मुहम्मद अली ने एक बार कहा था कि बगाली और मद्रासी काग्रेस मे बहुत बोला करते हैं, बिहार के लोग जब औरो को बोलते देखते हैं तो खिसक कर राजेन्द्रबाबू के पास जाते हैं कि "रौवा बोली न," और यू० पी० के लोग खुद नही बोलते और जब कोई बोलता है तो कहते है, "क्या बेवकूफ बोलता है।" हमारे प्रान्त के बडे-बडे नेताओ के आगे हम लोगो को कभी बोलने की जरूरत नही पडती थी। एक समय पडित जवाहरलाल भी बहुत कम बोलते थे। किंतु सन् १९३४ मे मुझे पार्टी की ओर से बोलना पडा। यदि पार्टी बनी न होती तो शायद मैं काग्रेस मे बोलने का साहस भी नही करता।

पडित जवाहरलाल नेहरू जी से मेरी विचारधारा बहुत मिलती-जुलती थी। इस कारण तथा उनके व्यक्तित्व के कारण मेरा उनके प्रति सदा आकर्षण रहा। उनके सम्बन्ध मे कई कोमल स्मृतिया है। यहा केवल एक बात का उल्लेख करता हू। हम लोग अहमदनगर के किले मे एक साथ थे। एक बार टहलते हुए कुछ पुरानी बातो की चर्चा चल पडी। उन्होने कहा—'नरेन्द्रदेव! यदि मैं काग्रेस के आदोलन मे न आता और उसके लिए कई बार जेल की यात्रा न करता तो मैं इसान न बनता।" उनकी बहन कृष्णा ने अपनी पुस्तक मे जवाहरलाल जी का एक पत्र उद्धृत किया है, जिससे उनके व्यक्तित्व पर प्रकाश पडता है। पडित मोतीलाल जी की मृत्यु के पश्चात् उन्होने अपनी बहिनो को लिखा कि पिता की सपत्ति मेरी नही है, मैं तो सबके लिए उसका ट्रस्टीमात्र हू। उस पत्र को पढकर मेरी आखो मे आसू आ गये और मैंने जवाहरलाल जी की महत्ता को समझा। उनको अपने साथियो का बडा ख्याल रहता है। और बीमार साथियो की बडी शुश्रूषा करते है।

महात्मा जी के आश्रम मे चार महीने रहने का मौका मुझे सन् १९४२ मे मिला। मैंने देखा कि वे कैसे अपने प्रत्येक रोगी की पूछ-ताछ करते थे। प्रत्येक छोटे-बडे कार्यकर्ता का खयाल रखते थे। आश्रमवासी अपनी छोटी समस्याओ को लेकर उनके पास जाते थे और वह सबका समाधान करते थे। आश्रम मे रोग-शय्या पर पडे-पडे मैं विचार करता था कि वह पुरुष जो आज के हिंदू धर्म के किसी नियम को नही मानता, वह क्यो असख्य सनातनी हिंदुओ का आराध्य देवता बना हुआ है। पडित समाज चाहे उनका भले ही विरोध करें, किंतु

अपढ जनता उनकी पूजा करती है। इस रहस्य को हम तभी समझ सकते हैं, जब हम जानें कि भारतीय जनता पर श्रमणसस्कृति का कही प्रभाव पडा है। जो व्यक्ति घर-बार छोडकर निःस्वार्थ सेवा करता है, उसके आचार की ओर हिंदू जनता ध्यान नही देती। पडित भले ही उसकी निंदा करें, किंतु सामान्य जनता उसका सदा सम्मान करती है। अक्टूबर, सन् १९४१ मे जब मैं जेल से छूटा तब महात्मा जी ने मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध मे मुझसे पूछा और प्राकृतिक चिकित्सा के लिए आश्रम मे बुलाया। मैं महात्मा जी पर बोझ नही डालना चाहता था। इसलिए कुछ बहाना कर दिया। पर जब मैं ए० आई० सी० सी० की बैठक मे शरीक होने वर्धा गया और वहा बीमार पड गया, तब उन्होने रहने के लिये आग्रह किया। मेरी चिकित्सा होने लगी। महात्माजी मेरी बडी फिक्र रखते थे। एक रात मेरी तबियत बहुत खराब हो गयी। जो चिकित्सक नियुक्त थे, घबरा गये, यद्यपि इसके लिए कोई कारण न था। रात को १ बजे बिना मुझे बताये महात्मा जी जगाये गये और वह मुझे देखने आये। वह उनका मौन का दिन था। उन्होने मेरे लिए मौन तोडा। उसी समय मोटर भेज कर वर्धा से डाक्टर बुलाये गये। सुबह तक तबियत सभल गयी थी। दिल्ली से स्टैफर्ड क्रिप्स वार्तालाप के लिए आये थे। महात्मा जी दिल्ली जाना नही चाहते थे, किंतु आग्रह होने पर गये। जाने के पहले मुझसे कहा कि वह हिन्दुस्तान के बटवारे का सवाल किसी न किसी रूप मे लायेंगे इसलिए उनकी दिल्ली जाने की इच्छा न थी। दिल्ली से बराबर फोन से मेरी तबियत का हाल पूछा करते थे। बा भी उस समय बीमार थी। इस कारण वे जल्दी लौट आये। जिनके विचार उनसे नही मिलते थे, यदि वे ईमानदार होते थे तो वह उनको अपने निकट लाने की चेष्टा करते थे। उस समय महात्मा जी सोच रहे थे कि जेल में वह इस बार भोजन नही करेंगे। उनके इस विचार को जानकर महादेव भाई बडे चिन्तित हुए। उन्होने मुझसे कहा कि तुम भी इस सम्बन्ध मे महात्मा जी से बातें करो। डाक्टर लोहिया भी सेवाग्राम उसी दिन आ गये थे। उनसे भी यही प्रार्थना की गयी। हम दोनो ने बहुत देर तक बातें की। महात्मा जी ने हमारी बात शातिपूर्वक सुनी, किंतु उस दिन अतिम निर्णय न कर सके। बबई में जब हम लोग ९ अगस्त को गिरफ्तार हो गये तो स्पेशल ट्रेन मे अहमनगर ले जाये गये। उनमे महात्माजी, उनकी पार्टी और बबई के कई प्रमुख लोग थे। नेताओ ने उस समय भी महात्माजी से अतिम बार प्रार्थना

की कि वह ऐसा काम न करें। किले मे भी हम लोगो को सदा इसका भय लगा रहता था।

सन् ४५ मे हम लोग छूटे। मैं जवाहरलाल जी के साथ अल्मोडा जेल से १४ जून को रिहा हुआ। कुछ दिनो के बाद मे पूना मे महात्माजी से मिला। उन्होने पूछा कि सत्य और अहिंसा के बारे मे अब तुम्हारे क्या विचार हैं? मैंने उत्तर दिया कि मैं सत्य की तो सदा से आराधना किया करता हू, किंतु इसमे मुझको सदेह है कि बिना कुछ हिंसा के राज्य की शक्ति हम अग्रेजो से छीन सकेंगे। महात्मा जी के सम्बन्ध मे अनेक सस्मरण है, किंतु समयाभाव से हम इससे अधिक कुछ नही कहते।

इधर कई वर्षों से कांग्रेस मे यह चर्चा चल रही है कि कांग्रेस मे कोई पार्टी नही रहनी चाहिये। महात्माजी इसके विरुद्ध थे। देश के स्वतत्र होने के बाद भी मेरी राय थी कि अभी कांग्रेस से अलग होने का समय नही है, क्योकि देश सकट से गुजर रहा है। सोशलिस्ट पार्टी मे इस सबध मे मतभेद था, किंतु मेरे मित्रो ने मेरी सलाह मानकर निर्णय को टाल दिया। मैंने यह भी साफ कर दिया था कि यदि कांग्रेस ने कोई ऐसा नियम बना दिया जिससे हम लोगो का कांग्रेस मे रहना असभव हो गया तो मैं सबसे पहले कांग्रेस छोड दूगा। कोई भी व्यक्ति, जिसको आत्मसम्मान का ख्याल है, ऐसा नियम बनाने पर नही रह सकता। यदि ऐसा नियम न बनता और पार्टी कांग्रेस छोडने का निर्णय करती तो यह ठीक ही है कि मैं आदेश का पालन करता, किंतु मै यह नही कह सकता कि मैं कहा तक उसके पक्ष मे होता। कांग्रेस के निर्णय के बाद मेरे सब सन्देह मिट गए और अपना निर्णय करने मे मुझे एक क्षण भी न लगा। मेरे जीवन के कठिन अवसर, जिनका मेरे भविष्य पर गहरा असर पडा है, ऐसे ही हुए हैं। इन मौको पर ऐसी घटनाए हुई कि मुझे अपना फैसला करने मे कुछ देर न लगी। इसे मैं अपना सौभाग्य समझता हू।

मेरे जीवन के कुछ ही वर्ष रह गए हैं। शरीर सपत्ति अच्छी नही है, किन्तु मन मे अब भी उत्साह है। सदा अन्याय से लडते ही बीता। यह कोई छोटा काम नही है। स्वतत्र भारत मे इसकी और भी आवश्यकता है। अपनी जिन्दगी पर एक निगाह डालने से मालूम होता है कि जब मेरी आखें मुदेंगी, मुझे एक परितोष होगा कि जो काम मैंने विद्यापीठ मे किया है, वह स्थायी है। मैं कहा करता हू कि यही मेरी पूजी है और इसी के आधार पर मेरा राजनीतिक कारोबार चलता है। यह सर्वथा सत्य है।

जनवाणी, मई सन् १९४७

सृजनात्मक साहित्य से ही हिन्दी का विकास संभव

आचार्य नरेन्द्र देव

भारतीय संविधान ने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार कर लिया है। जिनकी मातृभाषा हिन्दी है उनका इस विषय मे विशेष कर्तव्य है। उनको यह समझना चाहिये कि इस कार्य मे उदारता, सहिष्णुता से काम लेने से ही सफलता मिल सकती है। अपनी मातृभाषा के लिये सबको पक्षपात होता है। जब जिसकी भाषा का साहित्य प्राचीन और उत्कृष्ट है वह किसी दूसरी भाषा को राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार करते हैं तो उसका यह कारण नहीं है कि वे हिन्दी को अपनी भाषा से अधिक उत्कृष्ट मानते है। इसका एकमात्र कारण यही है कि वे अनुभव करते है कि राष्ट्रीय एकता को पुष्ट करने के लिये तथा परस्पर विचार-विनिमय की सुविधा के लिये एक राष्ट्रभाषा की अत्यन्त आवश्यकता है। उन्होने राष्ट्रहित मे ही हिन्दी को स्वीकार किया है। किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि हिन्दी उनकी मातृभाषा का स्थान ले लेगी। यह कार्य अहिन्दी भाषा भाषियो के हार्दिक सहयोग से और उनकी सद्भावना द्वारा ही सिद्ध हो सकता है। इसमे तनिक भी सन्देह नही है कि जो थोडा-बहुत विरोध कही-कही आज भी दिखाई देता है वह दूर हो जायेगा। यदि हम लोग सतर्कता से काम लें और विनयपूर्वक हिन्दी के प्रचार मे सलग्न हो। किन्तु यह मान लेना अनुचित होगा कि दक्षिण भारत मे हिन्दी सीखने की तीव्र अभिलाषा का प्रमाण पाते है। दक्षिण भारत हिन्दी प्रचार सभा द्वारा बहुत अच्छा काम हो रहा है और हिन्दी का प्रचार निरन्तर बढता जारहा है। मैसूर, त्रिवाकूर, आन्ध्र तथा कर्नाटक विश्वविद्यालय ने हिन्दी को माध्यम स्वीकार करने का निश्चय किया है। कही-कही हिन्दी एक ऐच्छिक विषय के रूप मे नियत पाठ्यक्रम मे स्थान पा गयी है और यह देखा गया है कि ७५ प्रतिशत विद्यार्थी हिन्दी लेना पसन्द करते हैं। जो थोडा-बहुत विरोध दिखाई पडता है उसके लिये हम स्वय उत्तरदायी हैं। हमको अपना कार्य इस प्रकार

नहीं करना चाहिए जिससे हमारे भाइयों पर यह प्रभाव पड़े कि हम अपनी भाषा उन पर लादना चाहते हैं। असहिष्णुता और जल्दबाजी से हिन्दी का प्रचार नही होगा। हमारा यह प्रयत्न होना चाहिए कि दूसरे राष्ट्रहित की भावना से प्रेरित होकर और एक सामान्य संस्कृति को विकसित करने के लिये हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप मे स्वीकार करें। हमारी तनिक भी इच्छा नहीं है कि हिन्दी अन्य भाषाओ को अपने स्थान से परिच्युत करे। हम केवल इतना चाहते हैं कि अहिन्दी भाषा भाषी अपनी-अपनी भाषा के साथ-साथ हिन्दी का भी अध्ययन करें जिसमें शनै-शनै हिन्दी व्यापक रूप से देश मे फैल जाय। हम चाहते हैं कि सबकी समवेत चेष्टा से हिन्दी भाषा का साहित्य समृद्ध और उज्ज्वल हो, जिसमें उसको राष्ट्रीय पद प्राप्त हो सके यदि उसपर सबको समान रूप से उचित गर्व हो।

राष्ट्रभाषा केवल राष्ट्रीय व्यवहार की सुविधा प्रदान नही करती वरन् उसके साहित्य द्वारा राष्ट्र मे एकरूपता की और भी आवश्यकता है। हमारा देश विशाल है। अनेक जातियाँ यहाँ बसती हैं, जिनके आचार-विचार भिन्न हैं। इन सबको एक मंदत्व मे ग्रथित करने के लिये कुछ सामान्य प्रतीक और सामान्य उद्देश्यो की आवश्यकता है। इनके अभाव मे विविध समुदायों में संघर्ष अनिवार्य हो जाता है। हमारी सामान्य आवश्यकतायें और अभिलाषायें हम मे एकरूपता ला रही हैं। जिन विश्वव्यापी शक्तियो ने हमे स्वतन्त्रता दिलायी है, उनका कार्य अभी समाप्त नही हुआ है। ये शक्तियाँ राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की ही हैं। यह युगधर्म ही इनके मार्ग मे जो बाधा उपस्थित करेगा वह विनष्ट होगा। सम्प्रदाय इस युग मे पनप नहीं सकता। हमारे राष्ट्रीय साहित्य की इन शक्तियो का प्रतिनिधित्व करना पड़ेगा। किन्तु उसमे यह सामर्थ्य तभी आ सकती है जब हिन्दी भाषा भाषियों की चिन्ताधारा उदार और व्यापक हो और जब हिन्दी साहित्य भारत के विभिन्न साहित्यो को अपने में आत्मसात करे और उत्तर-दक्षिण के भेद को मिटा दे। यदि यह तर्क ठीक है तो इसका परिणाम यह निकलता है कि हिन्दी भाषा भाषियों को दक्षिण की एक भाषा का अवश्य अध्ययन करना चाहिए (उत्तर की भाषाओं को सीखने मे हम लोगो को कोई कठिनाई नही है)।

यदि सब एक लिपि को स्वीकार कर लें तो यह काम और भी सुगम हो जायेगा। किन्तु इनकी अपेक्षा दक्षिण की भाषाओ का ज्ञान प्राप्त करना अधिक

आवश्यक है। भविष्य मे किसी भी व्यक्ति को शिक्षित नही समझना चाहिए जब तक वह दो-तीन देशी भाषाओ का ज्ञान नही रखता है कम से कम हिन्दी भाषा भाषियो को अन्य भाषाओ के साहित्य का ज्ञान कराना अत्यन्त आवश्यक है। बगला तथा गुजराती के अनेक ग्रथो का हिन्दी अनुवाद होना अत्यन्त आवश्यक है। यदि हम ठीक विवेचन करें तो हमे मालूम होगा कि सब देशी भाषाओ मे प्राय. एक ही प्रकार का झुकाव पाया जाता है। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता देशभक्ति की प्रेरणा प्रधान रही है और यह प्रेरणा सब भारतीय साहित्य मे समान रूप से पायी जाती है। ये सब साहित्य यूरोप के साहित्य से भी प्रभावित हुये हैं। टेकनीक और विषय की दृष्टि से सब पर योरोपीय साहित्य का प्रभाव पडा है। सभी कमोवेश आधुनिक विचारधाराओ से भी प्रभावित हुये है। यह इस बात का प्रमाण है कि समस्त भारत स्थानीय प्रभावों के अतिरिक्त कुछ देशव्यापी प्रभावो से भी प्रभावित हो रहा है। यदि हम विविध भाषाओ के साहित्य का अध्ययन करें तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी।

मैं ऊपर कह चुका हू कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरव प्राप्त कराना हम हिन्दी भाषा भाषियो का कर्त्तव्य है। इसका यह अर्थ नही है कि केन्द्रीय शासन को इस विषय मे कुछ करना ही नही है। किन्तु हमारा कुछ ऐसा स्वभाव बन गया है कि सब कार्यों के लिये सरकार का मुह ताकते हैं। जनतन्त्र इस तरह नही पुष्ट हो सकता है। सरकार की शक्ति और उसके साधन की भी सीमा है। जनता का सहयोग प्राप्त किये बिना गवर्नमेन्ट भी अपनी योजना मे सफल नही हो सकती। पुन साहित्य की वृद्धि के लिये हमको अपने कलाकारो और लेखको पर ही मुख्यत. निर्भर करना पड़ेगा। ऊचे दर्जे के लेखको तथा उनके द्वारा स्थापित सस्थाओं की समवेत क्रिया से ही हम अभिलषित फल पा सकते हैं। राज्य ऐसी सस्थाओ की स्थापना में सहायक हो सकता है। और उनको आवश्यक सहायता प्रदान कर सकता है। किन्तु कार्य तो साहित्यकों को ही करना होगा। हिन्दी का क्षेत्र विशाल हो दस राज्यो की यह प्रादेशिक राजभाषा है। हिन्दी की प्रगति द्रुत वेग से हो रही है। किन्तु कुछ आवश्यक कार्य सम्पन्न नही हो रहे है। एक निश्चित योजना की बड़ी कमी है।

यदि हम हिन्दी का व्यापक प्रचार चाहते हैं तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम

प्रत्येक देशी भाषा के लिये एक कोश, एक व्याकरण यदि एक पाठावली तैयार करें। इस दिशा मे थोडा काम हुआ है। किन्तु वह सतोषजनक नहीं। खेद का विषय है कि अग्रेजी हिन्दी का कोई अच्छा कोश अभी तक तैयार नही हुआ है। पारिभाषिक शब्दों के कोश तैयार हो रहे हैं, किन्तु इस सम्बन्ध मे इतना निवेदन करना आवश्यक है कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि जहा तक सम्भव हो सब देशी भाषाओ मे समान पारिभाषिक शब्दों के कोश तैयार हों किन्तु इस सम्बन्ध मे इतना निवेदन करना आवश्यक है कि प्रयत्न यह होना चाहिए कि जहा तक सम्भव हो सब देशी भाषाओ में समान पारिभाषिक शब्द व्यवहार मे आयें। विश्वविद्यलयो के लिये पाठ्य पुस्तको के तैयार करने का भी कार्य अत्यन्त आवश्यक है। विदेशी भाषाओ मे लिखे गये प्रामाणिक ग्रन्थो का हिन्दी मे अनुवाद होना चाहिए। इन सब कार्यों से अधिक महत्व का कार्य मौलिक ग्रन्थो की रचना का है जो कला और भाव की दृष्टि से उत्कृष्ट हो। टेकनीक और विषय की दृष्टि से सफल हो। यह कार्य आदेश देने से नही हो सकता।

साहित्य एक सामाजिक प्रक्रिया है इसका समाज पर अनिवार्य रूपसे प्रभाव पडता है। बडे बडे कलाकार ही उत्कृष्ट साहित्य की सृष्टि करते है। वे टेकनीक को पूर्ण करते हैं, भाषा को अलकृत करते हैं और उसे सूक्ष्म और कोमल भावों और अनुभूतियो को व्यक्त करने की सामर्थ्य प्रदान करते हैं। कलाकर अपनी आतरिक अनुभूतियो को अपनी कृतियो में व्यक्त करता है, अपने युग की विश्वदृष्टि से जो विभिन्नता वह अपने मे पाता है, उसे उसका व्यक्तित्व अपने ढग से व्यक्त करता है। इस प्रकार वह दूसरो को वह अनुभव कराता है जो उनके लिये नये हैं और भाव तथा ज्ञान की नयी गहराइयो को प्रकाश मे पाता है। कलाकार इस प्रकार मानव अनुभूति को समृद्ध करता है। जितनी मात्रा मे कलाकार की सामाजिक जागरूकता होती है, उसी मात्रा मे उसका प्रभाव समाज पर पडता है। यदि उसको उन शक्तियो का स्पष्ट ज्ञान है जो समाज को बदल रही है यदि वह सामाजिक विकास की दिशा का ज्ञान रखता है तो वह अपनी जागरूकता को अपनी कृतियो द्वारा दूसरो को दे सकता है तथा वह दूसरों के साथ सहयोग कर ऐसी सस्थाओ को जन्म दे सकता है जो सामाजिक विकास की दिशा को मानव समाज की आवश्यकताओ की पूर्ति के लिये उपयुक्त बना सकें।

विज्ञान ने मनुष्य को वह शक्ति प्रदान की है कि यदि वह चाहे तो विकास की

दिशा को निर्धारित कर सकता है। विकास की क्रिया अब एक अबप्रणाली नही है, बुद्धिपूर्वक उसकी दिशा निश्चित हो सकती है। यह लाभ कला को भी प्राप्त है। जब तक समाज मे ऐसे व्यक्तियो का समुदाय जन्म नही लेता जो उन शक्तियो का ज्ञान रखते हैं जो सामाजिक परिवर्तन के आधार को निश्चित करती है तब तक समाज मे जागरूकता का एक ऊचा स्तर उत्पन्न नही हो सकता यदि जब तक ऐसा नही होता तब तक सस्कृति विकास का क्रम समाज के हित की दृष्टि से नही, अपितु व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर चलता रहता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि समाज के विकास और मूल्यो की सृष्टि के लिये साहित्य का कितना महत्व है। यह सत्य है कि सिनेमा, रेडियो और टेली-विजन ने साहित्य के क्षेत्र मे आक्रमण कर साहित्य के महत्व को घटा दिया है विज्ञान और टेकनालाजी के आधिपत्य ने भी साहित्य के मर्यादा को घटाया है। किन्तु यह असदिग्ध है कि साहित्य जो आज भी कार्य कर सकता है वह कोई दूसरी प्रक्रिया नही कर सकती। विज्ञान वेत्ताओ की आर्थिक अवस्था दयनीय नही है। इसका कारण यह है कि उनके अनुसधान का उपयोग उद्योग व्यवस्था के क्षेत्र मे ही हो सकता है। यही कारण है कि बड़े-बडे व्यवसायी अपनी एक प्रयोगशाला भी रखते हैं। भौतिक गवेषणा का भी उपयोग भी व्यापार के लिये होता है। अत विज्ञान वेत्ता सत्य की अराधना अविचलित भाव से कर सकता है। व्यापार के लाभ के लिये सिनेमा आदि के मौलिक तथा ग्रथ प्रकाशक साहित्य का भी उपयोग करते हैं। किन्तु इस विषय में साहित्यिक स्वतन्त्रता नही है। उनको वही लिखना पडता है जिसका व्यापार के लिये मूल्य है। इसलिये जो लेखक कटुसत्यव्यक्त करता है, उसको किसी प्रकार का प्रोत्साहन नही मिलता। विश्वविद्यालयो मे भी साहित्य के क्षेत्र मे जो काम होता है उसका सम्बन्ध प्राय पुराने साहित्य के मूल्याकन से ही रहता है। आलोचना को प्रधानता दी जाती है। इसी मे साहित्य की समाप्ति होती है। कोई भी विश्वविद्यालय किसी राज्य या उपन्यास की रचना के लिये डाक्टर की उपाधि नही देता। प्राचीन साहित्य की व्याख्या या आलोचना करना ही उनका मुख्य कार्य है उसमे सन्देह नही कि इसका अपना महत्व है। किन्तु कोई कारण नही कि नवीन रचनायें जो साहित्यिक भडार को समृद्ध करती है और इस प्रकार उसे बल और ओज प्रदान करती है क्यो न महत्पूर्ण समझी जाय। मेरे समझ में यदि साहित्य को अपने सामाजिक कर्त्तव्य का पालन करना है तो इस

प्रकार के कृतियो को महत्व और प्रोत्साहन मिलना चाहिए ऐसी कृतियो का तभी मूल्य है जब कलाकार निश्शंक होकर अपनी अनुभूतियो को व्यक्त करता है। मानव सम्बन्धो के विषय मे विशेषकर उस सम्बन्ध के विषय मे जिनका गम्भीर महत्व है। जनता को ज्ञान कराना साहित्य का काम होना चाहिए। जहा विज्ञान भौतिक जगत के विषय मे ज्ञान कराता है वहा सच्चा साहित्य मानव सम्बन्धो का ज्ञान कराता है। अतीत के अनुभव के आलोक मे वर्तमान को देखना गुजर रहा है और जिसके भविष्य के बारे मे टायनबी ऐसे इतिहास वेत्ता निराश हो गये हैं, निराश होने की आवश्यकता नही है। भारत ने स्वतन्त्रता अर्जित कर नवीन जीवन प्राप्त किया है। उसका जीवन अब स्थिर और जड नहीं रह सकता। उसकी समस्यायें ऐसी हैं जो उसको चुप बैठने नही देंगी। सारे एशिया के लिये एक नये युग का आरम्भ हो गया है। यह सच है कि दो युगो का भार हमारे दुबल कन्धो पर पड़ा है किन्तु इस कारण हमको अवसन्न और निराश नही होना चाहिए। विश्व आदि मानव के प्रति हमारी विशाल दृष्टि होनी चाहिए। विश्व की परिधि मे हमको अपने भविष्य का निर्माण करना है। हम हिन्दी भाषा-भाषी यदि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के गौरवमय स्थान पर बिठाना चाहते हैं तो हमको संकीर्णता, प्रान्तीयता और पक्षपात का परित्याग करना होगा।

भारत के विभिन्न साहित्यको की अराधना कर उनकी उत्कृष्टता को हिन्दी में उत्पन्न कर, हिन्दी साहित्य को सचमुच राष्ट्रीय और सर्वथ राष्ट्र के विकास का एक समर्थ उपकरण बनाना हमारा आपका कार्य है इस दायित्व को हम दूसरो पर नही छोड सकते। यदि १० हिन्दी भाषा-भाषी राज्य हिन्दी के साहित्यको के सहयोग से एक निश्चित योजना बनावें और उसको मिल-जुल कर कार्यान्वित करें तो हिन्दी साहित्य बहुत आगे बढ़ सकता है। हमको यह भूलना चाहिए कि अब प्रचार का युग चला गया, यह काम करने का युग है। स्थानीय बोलियो के अध्ययन की हम अब तक उपेक्षा करते रहे। इधर अवश्य इस ओर ध्यान गया है और इस दिशा मे कुछ अच्छा काम हो भी रहा है। लोक भाषाओ की कहावतें, मुहावरे, लोकगति और उनके शब्दो का तथा आज के समाज मे जो शक्तिया काम कर रही है उनको समझना तथा मानव समाज की दृष्टि से उनका सचालन करना एक सच्चे कलाकार का काम है। आज के युग ने सतुलन खो दिया है। हमने प्रकृति पर विजय प्राप्त की है। उसके

रहस्यों का उद्घाटन किया है और प्राकृतिक शक्तियों का अपने लिये उपयोग करना सीखा है। किन्तु विज्ञान की इस शक्ति के फलस्वरूप जो नवीन परि-स्थिति उत्पन्न हो गई है उसके ज्ञान की अत्यन्त कमी है। जिन समस्याओ की हम उपेक्षा करते हैं वह मुख्यत सामाजिक हैं और बिना इसको समाधान किये समाज की स्थिति नही हो सकती और वह अपने खोये हुये सतुलन को प्राप्त नही कर सकता।

किन्तु इस उद्योग-व्यवसाय के युग मे जब रुपये के माप-दन्ड से सब कुछ नापा जाता हो, एक सच्चे साहित्यिक का दम घुटता है उसको सुरक्षा भी नही मिलती मान आदि प्रतिष्ठान का क्या कहना। राज्य और समाज से ऐसे साहित्य को प्रोत्साहन मिलना चाहिए। ऊचे कलाकारो को वह सब सुविधायें प्रदान करनी चाहिए जिनके मिलने पर ही वह अपनी सृजन शक्ति को प्रदर्शित कर सकता है।

व्यापार को सम्पूर्ण सत्य से क्या स्वीकार? किन्तु मानव को सम्पूर्ण सत्य चाहिए। समाज को जागरूक करनी उसकी चेतना को जगाना, आज की समस्याओ को और उनके साधनो को प्रस्तुत कर समाज को विकास के कार्य में बुद्धिपूर्वक अग्रसर करना साहित्य का कार्य है।

जितनी ही अधिक सख्या मे हम सच्चे साहित्यक उत्पन्न कर सकेंगे, उतना ही अधिक महत्व हिन्दी साहित्य को प्राप्त होगा। राष्ट्रभाषा के पुजारियो मे सद्विवेक, नवीन, दृष्टि विनिश्चय सतुलन और साहस की आवश्यकता है।

हमको पश्चिमी यूरोप के समान, जिसने अपने सामजस्य को खो दिया है, जो सास्कृतिक सकट से सग्रह करना बडा आवश्यक ही साहित्य भाषा के लिये उनमे अपने उपयुक्त शब्द और मुहावरे मिलेंगे जो किसी समय साहित्य मे प्रचलित थे, किन्तु किसी कारणवश उनका चलन बन्द हो गया। इस तरह भाषा समृद्ध और जानदार होगी। किन्तु इसका फल यह न होना चाहिए कि विभिन्न बोली बोलने वाले लोग अपने प्रदेश के लिये पृथक राज्य की माग करें। जहां प्रधान भाषाओ के आधार पर अन्य बातो का विचार करते हुये राज्य का पुन. सगठन होना चाहिए वहा इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि इस भावना को इतना प्रोत्साहन न दिया जाय जिसमे भारत के अनेक खड हो जाये जो आत्मनिर्भर न हो और प्रान्तीयता के अन्य भाव को पुष्ट करें।

●

चेतनाशील, प्रतिबद्ध साहित्य

आचार्य नरेन्द्र देव

वसे तो प्रगतिशील साहित्य की परिभापा के सम्बन्ध मे अब भी विवाद चला आता है, किन्तु मोटे तौर पर यह कहा जा सकता है कि जीवन के केन्द्र में मानव को प्रतिष्ठित करके चलने वाला साहित्य प्रगतिशील साहित्य है। जीवन और मानव एक दूसरे को प्रभावित करते हैं, परस्पर अन्योन्याश्रित होते हैं। इनकी पारस्परिक क्रिया-प्रतिक्रिया से ही सामाजिक परिवर्तन होते हैं। समाज के भीतर क्रियाशील रहते हुए भी अपने को अलग से देखने, आत्म-निरीक्षण करने की आवश्यकता सदैव होती है। किन्तु उससे पृथक रहकर, जीवन-प्रवाह से हटकर व्यक्ति अपना विकास नही कर सकता। समाज के भीतर रहकर व्यक्ति को सामूहिक हित को दृष्टि मे रखते हुए एक मर्यादा, बन्धन एव अनुशासन स्वीकार करना पडता है। मनुष्य और पशु मे एक मुख्य भेद यह भी है कि मनुष्य का जीवन अपने समाज मे मर्यादित होता है। अत: सच्चे साहित्यकार का कर्तव्य हो जाता है कि वह मनुष्य को समाज से पृथक करके, अमूर्त मानवता को स्वतत्र प्रतीक के रूप मे सीमित न कर उसे सामाजिक प्राणी के रूप मे देखे—ऐसे समाज के सदस्य के रूप मे जिसमे निरतर सघर्ष हो रहा है। इन सघर्षों के कारण जो प्रतिक्षण परिवर्तनशील है।

कहा जाता है कि कलाकार 'स्वान्त. सुखाय' रचना करता है। प्रत्येक रचनात्मक कृति द्वारा रचयिता को एक प्रकार का आन्तरिक सन्तोष या सुख प्राप्त होता है, इस अर्थ में यह धारणा यथार्थ मानी जा सकती है। किन्तु यदि इसका अर्थ यह लगाया जाय कि कलाकार का और कोई उद्देश्य नही होता तो यह धारणा भ्रमपूर्ण होगी। अपने अध्ययन तथा अनुभूति के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एव कलाकार का एक दर्शन, जीवन की व्याख्या का एक विशेष दृष्टिकोण होता है और उसकी रचना के पीछे यह दृष्टिकोण छिपा रहता है।

जीवन के इस दृष्टिकोण के अनुसार कलाकार जीवन को एक विशेष दिशा मे प्रगटित होते देखना चाहता है। कलाकार के मन मे यह बात स्पष्ट हो अथवा अस्पष्ट किन्तु उसकी रचना मे भी उसकी यह अभिलाषा अपेक्षाकृत सुप्त अथवा चैतन्य रूप मे विद्यमान रहती है। हमारा जीवन पृथक से दिखाई पडने वाले अनेक क्षेत्रो मे बटा हुआ है। इन पृथक क्षेत्रो के भीतर और इनमे परस्पर नाना प्रकार के सघर्ष हो रहे हैं। दर्शन अथवा जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण इस सघर्ष और पृथकता से ऊपर उठकर सभी को एक सूत्र मे सम्बद्ध करके और उन्हे यथासम्भव रखकर समूचे जीवन-क्षेत्र का एक सम्बद्ध दृश्य प्रस्तुत करता है। यह जीवन-दर्शन जितना ही सुलझा हुआ होगा, साहित्यिक अथवा कलाकार की रचना सामाजिक प्रगति मे उतनी ही सहायक हो सकेगी। जीवन के अन्तर्गत अनेक प्रकार के धर्मों—व्यक्ति, कुल, राष्ट्र तथा विश्व के बीच एक प्रकार का सघर्ष जान पडता है। साथ ही उनमे एक प्रकार की अन्योन्याश्रयता, शृखला और परम्परा दिखायी देती है। वस्तुत यह सघर्ष तभी दिखाई पडता है जब हम अन्योन्याश्रयता को दृष्टि से ओझल कर देते हैं और इन धर्मों को मर्यादित नही कर पाते, उनका उचित सामञ्जस्य नही कर पाते। उदाहरणार्थ राष्ट्रधर्म का हमे उससे भी उच्चतर विश्वधर्म के साथ सामञ्जस्य करना पड़ेगा। सामञ्जस्य होने पर राष्ट्रधर्म का सर्वथा लोप नही होता, वह केवल मर्यादित स्थान ग्रहण करता है, राष्ट्रधर्म और विश्वधर्म के बीच गहराई मे न जाकर केवल सतह पर से देखने पर जो सघर्ष दृष्टिगोचर होता है उसका लोप होता है। चूँकि व्यक्ति राष्ट्र अथवा विश्व का अग है। अत राष्ट्र और विश्व के विकास के साथ ही व्यक्ति को अपने पूर्ण विकास का अवसर प्राप्त होता है। जीवन के केन्द्र मे मानव की प्रतिष्ठा की मूल भावना को लेकर चलने वाले प्रगतिशील साहित्यिक के लिये विश्वव्यापी जीवन-दृष्टिकोण का होना आवश्यक है।

प्रत्येक युग की सामाजिक व्यवस्था अपनी आवश्यकताओ के अनुसार एक विशेष जीवन-दृष्टिकोण को जन्म देती है। प्राचीनकाल मे भी, चाहे पौर्वात्य जगत हो अथवा पाश्चात्य, जब तक एक प्रकार की आर्थिक सस्थाएँ और परम्पराएँ प्रचलित रहीं, उनमे क्रातिकारी परिवर्तन नही हुए, तब तक समाज मे इस जीवन-दृष्टिकोण के सम्बन्ध मे भी सहमति रही। किन्तु इस निरतर परिवर्तन-शील ससार मे समाज की बढती हुई आवश्यकताओं की पूर्ति के लिये उसकी

भौतिक आर्थिक मूल भित्ति मे परिवर्तन होता रहता है और इस मूलभित्ति पर निर्मित्त विचारो का प्रासाद भी नया रूप ग्रहण करता रहता है। विचार-धारा का तीव्र सघर्ष प्राचीन के विनाश और नवीन के उदय की सन्धि-वेला मे होता है। प्राचीन के गर्भ से ही नवीन का सृजन करने वाली शक्तियाँ जन्म लेती हैं। समाज को अतीत की ओर ले जाने वाली तथा भविष्य की ओर ले जाने वाली शक्तियो मे सघर्ष होता है। प्राचीन के गर्भ से निकल कर नवीन भविष्य का निर्माण करने वाली शक्तिया प्रबलतर होती जाती हैं। विरोधी शक्तियो के क्रमिक विकास के प्रसग मे हमे समाज मे गुणात्मक परिवर्तन, कई स्तरो के एक साथ उल्लघन अथवा उत्क्रांति के दर्शन होते हैं। वे विचारशील व्यक्ति जिनके तीव्र सवेदनशील कोमल मानस-पट पर क्षुद्र से क्षुद्र घटनाएँ भी अपना प्रभाव अकित कर जाती हैं, नये परिवर्तनो के क्रम-विकास के साथ समाज को नये विचार देते हैं।

नई व्यवस्था की स्थापना के साथ प्राचीन का सर्वथा लोप नही हो जाता। अर्वाचीन के भीतर भी प्राचीन बहुत कुछ बना रहता है। नवीन और प्राचीन में एक नैरन्तर्य, एक शृखला, एक परम्परा बनी रहती है। पूजीवाद मे भी बहुत दुर्बल और क्षीण रूप मे सामन्तवाद बहुत दिनो तक वर्त्तमान रहता है और समाजवाद की स्थापना के साथ भी बहुत दिनो तक पूजीवाद की कतिपय विशेषताए सम्बद्ध रहेगी। विनाश और निर्माण के क्रम मे अतीत, वर्तमान और भविष्य के बीच उनको आपस मे जोडने वाली एक अटूट कडी बनी रहती है। प्रगतिशील साहित्यिक इस ऐतिहासिक सत्य को हृदयगम करते हुए अतीत का सर्वथा परित्याग नही करता, साधक तत्वो को वह चुन लेता है, बाधक तत्वों का सर्वथा परित्याग करता है। मनुष्य स्वभावत परम्परापूजक होता है और जो जाति जितनी ही प्राचीन होती है, उसके भीतर अपनी सस्कृति की श्रेष्ठता की भावना उतनी ही अधिक बद्धमूल होती है। अत भारत जैसे प्राचीन देश मे हमे नवीन सस्कृति के निर्माण की दृष्टि से अतीत के साधक एव समर्थक तत्वो का उपयोग करना ही चाहिए।

अतीत की अनेक विचार-पद्धतिया जो आज हमे प्रतिगामी होती है, अपने समय के समाज के लिए कल्याणप्रद रही है भौतिकवाद तथा यथार्थवाद को मानकर चलने वाली विचार-धाराए ही जनकल्याण के मार्ग का अनुसरण

करती रही हैं और इसके विपरीत आध्यात्मिक अथवा 'विज्ञानवादी' विचार-धाराएं सदैव अप्रगतिशील रही हैं, ऐसा सोचना उचित न होगा। विज्ञानवाद भी विशेष काल मे प्रगतिशील का द्योतक था। उदाहरण के लिए हम बौद्ध-काल की अप्रतिष्ठित निर्वाण की कल्पना को लें। निर्वाण की इस कल्पना के अनुसार साधक निर्वाण मे प्रवेश की क्षमता रखते हुए भी सामाजिक कल्याण की भावना से प्रेरित होकर अपने को उससे वंचित रखता है, जबकि असख्य जीवन दुख मे आहत हो और क्लेश-पाश मे फसे हुए हो, ऐसी अवस्था मे केवल अपने वैयक्तिक मोक्ष की ओर ध्यान देना उसे क्षुद्र प्रतीत होता है। निष्काम कर्म की भावना भी इसी काल मे जन्म लेती है। कर्म बन्धन का हेतु है। बिना कर्म का परित्याग किए हुए मनुष्य आवागमन के चक्र मे छुटकारा पाकर मोक्ष की प्राप्ति नही कर सकता। किन्तु बिना कर्म मे प्रवृत्त हुए साधक जन-समूह का उद्धार भी नही कर सकता। जन-कल्याण की दृष्टि मे कर्म मे प्रवृत्त होने की आवश्यकता तथा कर्म मे स्वाभाविक परिणामगत बन्धनो से निर्लिप्त रहने के उद्देश्य मे सामजस्य स्थापित करने की दृष्टि से निष्काम कर्म के सिद्धात की उत्पत्ति हुई। प्रथम शताब्दी ईसा पूर्व मे चतुर्थ एव पचम शताब्दी का काल निश्चय ही भारतीय इतिहास का एक अत्यत गौरवपूर्ण अध्याय है। इस काल मे भारतीय जीवन के प्रत्येक विभाग मे सक्रियता के दर्शन होते हैं। इस समय निवृत्ति-मार्ग मे विश्वास रखने वाले भी प्रवृत्ति-पथपर चलते दिखाई पड़ते है। भारतीय साधुओ ने मध्य एशिया और दक्षिण पूर्वीय एशिया मे भारतीय संस्कृति के अखड राज्य की स्थापना इसी काल मे की थी। विदेशो से भारत का व्यापारिक सम्बन्ध भी इसी काल मे सुदृढ हुआ।

जहा हमे अपने देश के गौरवपूर्ण अतीत के उन तत्वो को ग्रहण करना है जो वर्तमानकाल मे पुरुषार्थ को प्रेरणा देने वाले है, वहा आज की अवस्था मे भार बनने वाली परम्पराओ का परित्याग कर हमे हल्का होना है और नवीन के विकासमान मूल्यो को अपनाना है। ये नवीन मूल्य कहा से आते है, उनका उपक्रम या सूत्र-पात कहा से होता है, इस बात की खोज करने की आवश्यकता नही है। आज सारा ससार एक इकाई का रूप धारण कर रहा है। सभी देशो की समस्याए बहुत कुछ समान सी है। पूजीवादी शोषण से त्राण पाने की समस्या ही ससार के अधिकाश देशो की समस्या है। यह स्पष्ट है कि हमारे देश मे आज जो परिस्थिति है, वह दूसरे भिन्न देशो मे हमारे देश से

पूर्व आई और उस परिस्थिति का जो हल दूसरे देशो ने पहले निकाला, उन देशों से हमे प्रेरणा ग्रहण करनी ही होगी। नवीन या विदेशी होने के कारण ही किसी जनकल्याणकारी विचार या मूल्य का परित्याग नही किया जा सकता। सस्कृतिया जब जीर्ण पड जाती हैं, तो नई सस्कृतियो के साथ सघर्ष होने से ही उनका कायाकल्प होता है। अपने पुराने रत्न जो कर्दम मे रहते है, वे भी इस सघर्ष से परिष्कृत होते हैं। जब कि सारा विश्व आज पूजीवादी विपमता की चक्की में पिसते हुए समान यातना भोग रहा है। यह स्वाभाविक है कि इस यातना से परित्राण पाने के लिए एक समान विचारधारा अपनायी जाय। जो लोग नवीन मूल्यो को ग्रहण करने से भागते हैं और विचारधारा सबधी सघर्ष से घबडाते हैं, वे अपने को विकास के पथ से विरत करते हैं। समाज में विभिन्न स्वार्थों के सघर्ष के कारण निरन्तर परिवर्तन होता रहता है और इस सघर्ष के फलस्वरूप ही समाज विकास के पथ पर नये कदम बढाता है। यदि क्रमागत विचारो और सस्थाओ को बिना आलोचना के स्वीकार कर लिया जाय तो भावी विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। समाज के अतर्गत विभिन्न स्वार्थों के सघर्ष और उसके फलस्वरूप समाज मे होने वाले परिवर्तन की प्रक्रिया का अध्ययन करके हम सामाजिक विकास मे बोधपूर्वक सहायता दे सकते हैं।

पूजीवाद के ह्रास के इस युग मे और महायुद्ध के उपरान्त राष्ट्रीयता का अन्त नही हो रहा है—लोगों का विचार है। प्रत्येक युद्ध के पश्चात् राष्ट्रीयता की जबरदस्त लहर आया करती है। किन्तु राष्ट्रीयता की भावना भी अभिशाप नहीं है, यदि वह सकीर्ण, आक्रमणशील राष्ट्रीयता न हो और विश्व-धर्म से मर्यादित होकर चल सके। साहित्यिको का कर्तव्य जनता को चिन्ताशील बनाना और मर्यादित राष्ट्रीयता के सच्चे रूप को समझाना है। उस सकुचित, विकृत राष्ट्रीयता से जनता को छुटकारा दिलाना है जिसमे जाति अथवा देश को अनावश्यक और अस्वाभाविक प्रधानता दे दी जाती है और जो वर्तमान सामाजिक समस्याओ के हल मे बाधक हैं। एक लम्बी अवधि तक स्वातन्त्र्य सग्राम मे रत रहने के कारण हमारे देश मे राष्ट्रीयता का जोर होना स्वाभाविक है। किन्तु अनुभव ने सिद्ध यही किया है कि इस राष्ट्रीयता की जड़ें गहरी नही थी। यह राष्ट्रीयता देश के बँटवारा को रोकने में असमर्थ रही और बँटवारे के परिणामस्वरूप उसने जो रूप ग्रहण किया है, उसका समन्वय

विश्व-धर्म के साथ करने मे हमे काफी कठिनाई का सामना पडेगा। प्रान्त, समुदाय और जातियो के बीच कलह भारत का पुराना रोग है, बँटवारे के बाद फिर उभडना चाहता है। प्रगतिशील साहित्यिको का कर्तव्य इस विकृत राष्ट्रीयता के खतरो को पहचानने की चेतना जनता मे उत्पन्न करना है। ससार मे एक नये महायुद्ध की तैयारिया हो रही हैं। यदि महायुद्ध छिडा और हिन्दुस्तान और पाकिस्तान के रहने वाले एक दूसरे से बदला लेने के ही चक्कर मे रहे तो दोनो का विनाश निश्चित है। यदि हम चाहते है कि आने वाले युद्ध मे तटस्थ रहकर उसकी विभीषिकाओ से अपने देश की रक्षा करें तो हमे तटस्थ राष्ट्रो के एक तृतीय शिविर का निर्माण करना होगा। हम कम से कम दक्षिण-पूर्वी एशिया के नव-स्वतन्त्रता-प्राप्ति राष्ट्रो तथा स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिए युद्धरत राष्ट्रो का इस प्रकार का तीसरा शिविर स्थापित कर सकते है। जबकि हम घरेलू झगडे मे फँसकर अपनी समस्त शक्ति उसी मे नष्ट न कर दें, जब हम अपनी दृष्टि को उदार बनावें। यदि भारत प्रतिशोध की भावना से ऊपर न उठ सका, यदि उसने आर्थिक क्षेत्र मे ऐसी प्रगतिशील नीति न अपनाई जिसके द्वारा वह अपने उत्पादन सकट आदि के प्रश्नो को हल करने के साथ अपने को सुदृढ बनाने मे समर्थ हो और अपने पडोसी राष्ट्रो को भी महायुद्ध मे तटस्थ रहने के लिए तैयार न कर सका, तो हमारा भविष्य बहुत अन्धकारमय सिद्ध हो सकता है। प्रगतिशील साहित्यिको को देश को इस विपत्ति की पूर्व सूचना देनी है। साहित्यिक अपने कर्त्तव्य का तभी निर्वाह कर सकता है, जबकि वह जीवन का गहराई से अध्ययन करे, वह समाज की जीवन-सरिता मे ऊपरी तल पर सचालित होने वाली प्रवृत्तियो तक ही अपनी दृष्टि को सीमित न रखे, अन्तःसलिला सरस्वती की भाति नीचे रहकर प्रच्छन्न रूप से कार्य करने वाली शक्तियो का भी अध्ययन करे। यह अध्ययन जन-जीवन से अलग रहकर नही किया जा सकता, प्रगतिशील साहित्यिक को जीवन की समस्याओ का अध्ययन करना होगा, अपनी रचनाओ मे उसे समाज के वर्तमान रूप का चित्रण करना होगा, जनता की मूक अभिलाषाओ को वाणी देनी होगी, इतिहास का अध्ययन करके उसकी जीवन-प्रदायिनी शक्तियो का समर्थन करते हुए जनता का मार्ग-प्रदर्शन करना होगा। साहित्यिक अपने को जनता का पथ-प्रदर्शक करने योग्य तभी बना सकता है, जबकि वह अपने को जीवन-सघर्ष से सर्वथा पृथक न रखे, उसमे जनसाधारण के साथ अपना,

तादात्म्य स्थापित करने की क्षमता हो, वह इतिहास का वैज्ञानिक अध्ययन करके उसके विकास की दिशा को पहचानने मे समर्थ हो, उसकी जीवन-दृष्टि सही हो। इतने गुणो के अभाव मे कितने ही कलाकार, जो प्रथम महायुद्ध के उपरान्त प्रगतिशील साहित्यिको के शिविर मे प्रविष्ट हुए थे, आज दिशा-भ्रमित होकर भटक रहे है। युद्धकाल मे तथा उसके पश्चात पुरानी मान्यताओ को भग होता देखकर वे अवसाद, खिन्नता और विचार-कुठा को प्राप्त हो रहे है। स्वस्थ जीवन्त दृष्टिकोण के अभाव मे वे पलायनवाद का सहारा ले रहे है। कोई रोमन कैथलिक दर्शन की शरण ले रहा है, कोई भारतीय योग के प्रति आकर्षित हो रहा है। कितने ही किकर्त्तव्यविमूढ होकर केवल नैराश्य भावना को व्यक्त कर रहे है। कारण-कार्य की शृखला और सामाजिक सम्बन्धो की ठीक धारणा न होने के कारण कितने ही कलाकार विज्ञान को ही वर्तमान सास्कृतिक पतन के लिए उत्तरदायी मान बैठे है। जीवन-सघर्ष से भागने वाले कलाकार आकस्मिक कारणो से भले ही प्रगतिशीलो की कोटि मे आ जायें, किन्तु उनकी प्रगतिशीलता क्षणिक ही होगी। जीवन-सघर्ष से पृथक रहकर सच्चे और प्रगतिशील साहित्य की सृष्टि सम्भव नही है। किन्तु इस कथन का यह तात्पर्य कदापि नही कि कलाकार के लिए राजनीतिक सघर्ष मे लिप्त होना आवश्यक है। सघर्ष के इतने निकट रहना कि उसका निरीक्षण कर सके, उसके लिए आवश्यक है। किन्तु सघर्ष के सम्बन्ध मे निष्पक्ष सम्मति बना सकने और साहित्य सृजन के लिए अवकाश प्राप्त करने के लिए सघर्ष मे सक्रिय भाग लेने से कलाकार को बचना पडता है। स्वास्थ्यप्रद साहित्य-सृजन ही जनान्दोलन में कलाकार का योग है। नवीन समाज के निर्माण के लिए सघर्ष सभी क्षेत्रो मे हो रहा है। साहित्यिक क्षेत्र मे कलाकारों को उस साहित्य का विरोध करना है जिसकी दृष्टि केवल अतीत की ओर है, जो प्राचीनता और परम्परा का अन्ध पुजारी है, जिसकी आस्था विश्व के प्रति नहीं, वर्तमान भारत के प्रति नही, बल्कि प्राचीन भारत के किसी कल्पित विकृत रूप के प्रति हैं, जो सकुचित आकर्षणशील, राष्ट्रीयता का प्रचार कर रहा है। इस प्रसग मे प्रगतिशील कलाकारो को यह नहीं भूलना है कि उनकी रचनाएँ भोडा प्रचार न होकर मर्मस्पर्शी, प्रभावोत्पादक उच्च कलाकृतिया हो। कला सोद्देश्य होती है। प्राय प्रत्येक रचना के पीछे एक सन्देश होता है, इस व्यापक अर्थ मे तो सभी कला-कृतियाँ प्रचार का साधन कही जा सकती है। किन्तु

कलाकृति को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसे प्रत्यक्ष प्रचार का साधन न बनाया जाय। दूसरी बात जिसे प्रगतिशील साहित्यिको को ध्यान मे रखनी है, यह है कि जहा कथा-वस्तु और विवेचना उनकी अपनी वस्तु होगी और नवीन शैलियो को भी वे अपनायेंगे, वहा दीर्घकाल से आचार्यो द्वारा पुष्ट की जाने वाली शैली, टैकनीक, छन्द एव शब्द विन्यास आदि की भी वे सर्वथा उपेक्षा नही कर सकते। प्राचीन साहित्य की टैकनीक सम्बन्धी विशेषताओं को उन्हे अपनाना होगा।

जैसा कि आरम्भ मे कहा जा चुका है, सारा ससार आज शोषण की चक्की मे पिसकर समान यातना भोग रहा है और उसकी मुक्ति की स्थापना मे सहायता देना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। मानव-मात्र की एकता और उसकी मुक्ति की स्थापना मे सहायता देना प्रगतिशील साहित्य का ध्येय है। मानव-मात्र की एकता और उसकी सिद्धि के लिए शोषणमुक्त सामाजिक व्यवस्था की आवश्यकता इन आदर्शों की भित्ति पर हमे एक नवीन सस्कृति का निर्माण करना है। नवीन सस्कृति के निर्माण मे हमे प्राचीन सस्कृति के साथ उसकी परम्परा को भी दिखलाना है। हमारी प्राचीन भारतीय सस्कृति नवीन व्यवस्था की स्थापना मे सर्वथा बाधक न होकर अनेक अशो मे साधक है। मानव-मात्र की एकता, 'वसुधैव-कुटुम्बकम्' का आदर्श इस देश मे बहुत पुराना है। वस्तुत जो कार्य श्रमण-धर्म ने आध्यात्मिक क्षेत्र मे मानव की एकता को स्वीकार करते हुए किया था, वही कार्य भौतिक क्षेत्र मे समाजवाद को स्वीकार करके हमे सम्पन्न करना है।

संस्कृति

आचार्य नरेन्द्र देव

सस्कृति शब्द का व्यवहार अग्रेजी शब्द कल्चर के लिए होता है। रवि बाबू प्राचीन आर्य शब्द 'कृष्टि' का व्यवहार करते है। सस्कृति शब्द की व्याख्या करना कठिन है। यदि हम शाब्दिक अर्थ लें तो हम कह सकते हैं कि सस्कृति चित्त-भूमि की खेती है। चूकि कर्म में मन या चित्त की प्रधानता है अत यह निष्कर्ष निकलता है कि जिसका चित्त सुभावित है उसकी वाणी और उसकी शरीर चेष्टा भी सुसस्कृत होगी, जिस प्रकार की हमारी दृष्टि होगी उसी प्रकार का हमारा क्रिया कलाप होगा। विश्व और मानव के प्रति एक दृष्टि-विशेष की आवश्यकता रहती है। विकास-क्रम से यह दृष्टि व्यापक होती जाती है और जब विश्व की एकता के साधन एकत्र हो जाते हैं तब यह एकता कार्य मे परिणित होने के लिए प्रयत्नशील हो जाती है। प्राचीन काल मे एक सुभावित चित्त के लिए इतना ही सम्भव था कि वह व्यक्तिगत रूप से विश्व के अखिल पदार्थों के साथ तादात्म्य स्थापित करे और जीवन मात्र के लिए मैत्री और अद्वेष की भावना से वसित हो किन्तु उसके कार्य करने का क्षेत्र बहुत सकुचित था। अत कार्यरूप मे यह भाव एक छोटे क्षेत्र में ही प्रयुक्त हो सकता था। व्यक्तियो के चित्त के साथ-साथ एक लोक चित्त भी बनता रहता है। मनुष्य सामाजिक है, क्योकि समाज मे रहने से ही उसके गुणो का विकास होता है। अत समाज मे कई बातो मे समानता उत्पन्न होती है। समूहो का विस्तार होता रहता है और एक समय आता है जब राष्ट्रीयता की प्रबल भावना से प्रेरित हो एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले सभी लोग कुछ बातो मे अपनी समानता और एकता का अनुभव करते हैं। एकता की भावना देश की सीमा का भी अतिक्रमण करती है। और 'एक विश्व' की भावना की ओर अग्रसर होती है। जिन बातो मे समानता उत्पन्न होती है। उन्ही के आधार पर लोकचित्त भी बनता है।

आज विविध राष्ट्रो का अपना-अपना एक लोकचित्त भी है। किन्तु क्योकि, आज एक ही प्रकार के अनेक आचार-विचार सारे विश्व मे प्रचलित हो रहे हैं इसलिए कुछ बातो मे विविध राष्ट्रो के लोकचित्त भी समान होते जाते हैं।

आज व्यक्तिगत् चित्त और लोक-चित्त दोनो को सुभावित करने की आवश्यकता है। आज के युग की आवश्यकताओ और आकाक्षाओ को पूरा करने के लिए जो जीवन के मूल्य और पुरुषार्थ के उद्देश्य तथा लक्ष्य निर्धारित होते हैं उन्ही के अनुकूल चित्त को सुभावित करना चाहिये। एशिया के सब देश आज राष्ट्रीयता और जनतन्त्र की भावना से प्रभावित हो रहे हैं। यही शक्तियाँ इन देशो के आचार-विचार को निश्चित करती है। और आज इनका कार्य सर्वत्र देखा जाता है। किन्तु कुछ प्रतिगामी शक्तियाँ पुराने युग का प्रतिनिधि बनकर इन नवीन शक्तियो के विकास की गति को रोकती है। और हमारे जीवन को अवरुद्ध करती है। यह शक्तिया युग-धर्म के विरुद्ध खडी हुई हैं और जीवन प्रवाह को अतीत की ओर लौटाना चाहती हैं। हमारे राष्ट्रीय जीवन को एक सोते मे बन्द करना चाहती हैं और उसी को एक पुण्य तीर्थ कल्पित कर जीवन की अविच्छिन्न धारा से हमको पृथक करना चाहती है। प्रत्येक व्यक्ति और राष्ट्र को इन शक्तियो को पहचानना चाहिये और उनका विरोध करना चाहिये। विज्ञान ने नई शक्तियो को उन्मुक्त किया है। उन्होने मानव को एक नया स्वप्न दिया है। और उसके सम्मुख नए आदर्श, नये प्रतीक और लक्ष्य रखे हैं। अतरराष्ट्रीय विज्ञान के आलोक मे समाज का कलेवर बदल रहा है, अन्तरराष्ट्रीयता के नए साधन और उपकरण प्रस्तुत हो रहे है। एक भावना सकल विश्व को व्याप्त करना चाहती है और एक नए सामजस्य की ओर ससार बढ रहा है। यह शक्तिया सफल होकर रहेगी क्योकि यह युग की माग को पूरा करना चाहती है।

हमको यह न भूलना चाहिये कि जीवन के साथ-साथ सस्कृति बदलती रहती है। जीवन स्थिर और जड नही है। इसीलिए सस्कृति भी जड और स्थिर नही है। समाज के आर्थिक और सामाजिक जीवन मे परिवर्तन होते रहते हैं और साथ-साथ सास्कृतिक जीवन भी बदलता रहता है। हमारे देश मे समय-समय पर अनेक जातिया बाहर से आयी और यहा के समाज मे घुल-मिल गई। वह अपने साथ आचार-विचार लाई। उन्होने यहा के आचार-विचार स्वीकार

किये और अपने कुछ आचार-विचार हमको दिये। संस्पर्श से संस्कृतियों का आदान-प्रदान होता रहता है। प्राचीनकाल मे जब धर्म-मजहब समस्त जीवन को व्याप्त और प्रभावित करता था तब संस्कृति के बनाने मे उसका भी हाथ था। किन्तु धर्म के अतिरिक्त अन्य भी कारण और हेतु सांस्कृतिक निर्माण मे सहायक होते थे। किन्तु आज मजहब का प्रभाव बहुत कम हो गया है। अन्य विचार जैसे राष्ट्रीयता आदि उसका स्थान ले रहे है। अतः अब तो उसका मान बहुत कम हो गया है। राष्ट्रीयता की भावना तो मजहबो के ऊपर है, यदि ऐसा न होता तो एक देश में रहने वाले विविध धर्मों के अनुयायी उसे कैसे अपनाते। विश्वव्यापी धर्म तो राष्ट्रीयता के विरोधी रहे हैं। वह देश, नस्ल और रग की सीमाओ को पार कर चुके थे। इस्लाम पुराने काल में धर्म देश की भौगोलिक सीमाओ की अपेक्षा करता था। किन्तु आज उन्नतिशील इस्लामी देश राष्ट्रीयता के आधार पर नही, किन्तु देश और नस्ल के आधार पर प्रतिष्ठित होते हैं। रोमन कैथोलिक चर्च को छोड कर ईसाई दुनिया का भी यही हाल है। राष्ट्रीय भावना के पुष्ट होने पर एशिया के पिछडे देशो का भी यही हाल होगा। हमारे देश में दुर्भाग्य से लोग संस्कृति को धर्म से अलग नही करते है। इसका कारण अज्ञान और हमारी संकीर्णता है। हम पर्याप्त मात्रा मे जागरुक नहीं है। हमको नही मालूम है कि कौन-कौन सी शक्तिया काम कर रही हैं, और इसका विवेचन भी हम ठीक नही कर पाते कि कौन सा मार्ग है। इसी कारण हम में सुविवेक और साहस की कमी है और इसीलिए यह सुगम है कि अतीत का मार्ग ग्रहण करें। किंतु हम भूल जाते हैं कि हम ऐसे युग मे रह रहे हैं जब क्रांतिकारी परिवर्तन हो रहे हैं, चारो ओर इसके स्पष्ट चिन्ह दीख पडते हैं। समाज का पुराना सामजस्य विनष्ट हो गया है, वह नए सामजस्य, नए समन्वय की तलाश मे है। ऐसे युग में हम केवल अतीत के सहारे कैसे चल सकते हैं। इतिहास बताता है कि वही देश पतनोन्मुख है जो युग धर्म की अपेक्षा करते है। और परिवर्तन के लिए तैयार नहीं है। इतने पर भी हम आख नही खोलते।

परिवर्तन का यह अर्थ कदापि नही है कि अतीत की सर्वथा उपेक्षा की जावे, ऐसा हो भी नही सकता। अतीत के वह अश जो उत्कृष्ट और जीवनपद हैं उनकी तो रक्षा करना ही है, किन्तु नए मूल्यो का हमको स्वागत करना होगा

तथा वह आचार-विचार जो युग के लिए अनुपयुक्त और हानिकारक है उनका परित्याग भी करना होगा ।

राष्ट्रीयता की माग है कि भारत मे रहने वाले सभी मजहब के लोगो के साथ समानता का व्यवहार होना चाहिये और सदा एकरुपता लाने का प्रयास होना चाहिये । सास्कृतिक दृष्टि भी आवश्यक है । जब ४ करोड मुसलमान हमारे देश के अधिवासी है तो उनका सस्पर्श आप बचा नही सकते । ऐसी अवस्था मे एक-रुपता के अभाव मे तथा सकीर्ण बुद्धि से उनके साथ व्यवहार करने मे सदा भय बना रहेगा और सघर्ष होता रहेगा । भेद-भाव की बुद्धि मिटाकर तथा एकरुपता के लिये उचित साधनो को एकत्रित करके ही इस भय को दूर कर सकते है । एक व्यापक और उदार बुद्धि से काम लेने से तथा कानून और आर्थिक पद्धति की समानता से धीरे-धीरे विभिन्नता दूर होगी और इस देश के सभी लोग समान रूप से इस देश की उन्नति मे लगेंगे ।

'सस्कृति' का ठीक-ठीक अर्थ कर और उसके स्वरूप को समझ कर ही हम आगे बढ सकते है । अन्यथा 'सस्कृति' के नाम पर बहुअनर्थ होगा और राष्ट्रीय एकता के काम मे बाधा पडेगी ।

भारतीय समाज और संस्कृति

आचार्य नरेन्द्र देव

आज साहित्य का मानदण्ड क्या हो — इस प्रश्न पर विचार करने के पूर्व जीवन और साहित्य का क्या संबंध है और जीवन को संचालित करने वाली कौन-सी शक्तियाँ हैं इस पर विचार करना आवश्यक है। आज जनकल्याण, रक्षा, अर्थनीति-सभी कुछ राजसत्ता द्वारा संचालित होती है। पहले जो भी स्थिति रही हो, आज राजा (अर्थात् राजसत्ता) वास्तव मे काल का कारण है। राजशास्त्र मे सभी शास्त्र समा गये हैं। आज हम राजनीति से अलग नही रह सकते। हमारा आशय दलगत राजनीति से नहीं है। हमारा अभिप्राय तो उस उच्च कोटि की राजनीति से है जो जनजीवन की धारा मे प्रवाहित होती रहती है और उसे बल प्रदान करती है। राजनीति की इस जीवन्त धारा से कोई भी विचारक या साहित्यस्रष्टा अलग नहीं रह सकता। आज हमारे सामाजिक जीवन मे जो संकट, जो अस्तव्यस्तता दिखाई दे रही है, क्या उससे कोई इनकार कर सकता है। क्या हमे उसका समाधान ढूंढना नही चाहिए ? अर्थनीति के बदलने पर राजनीति मे परिवर्तन आवश्यम्भावी है। १९ वी सदी में, जब लोग सम्पन्न थे, यह सोचते थे कि विज्ञान से हमारी तरक्की हो सकती है, किन्तु आज इस विचार पर से आस्था उठ गयी है। आज लोग विज्ञान को कोसने लगे हैं किंतु वास्तविकता यह है कि विज्ञान की प्रगति के साथ अर्थनीति मे जैसा परिवर्तन होना चाहिये था, वह नही हुआ। सारे संकटो की जड मे यही वास्तविकता है। पहले अर्थ-क्षेत्र मे व्यक्ति को विकास करने की स्वतन्त्रता देने के उद्देश्य से मुक्त व्यापार की नीति (लासेज फेयर)का अवलंबन किया गया। किंतु, वैज्ञानिक और यान्त्रिक विकास से धीरे-धीरे यह स्पष्ट होने लगा कि मुक्त व्यापार की नीति से सारा आर्थिक क्षेत्र कुछ लोगों की मुट्ठी मे चला जा रहा है और शेष जनता गरीब और असहाय होती जा रही है। अब समाज

मे घोर आर्थिक विषमता उपस्थित हो गयी है। अत. सभी प्रकार के अर्थशास्त्री किसी-न-किसी रूप मे नियोजन को स्वीकार करने लगे है। आर्थिक जीवन का यह सघर्ष सास्कृतिक जीवन मे भी प्रतिफलित हुआ है। आज की राजनीति मे भी आर्थिक, सास्कृतिक समस्याए गुथ गयी है। कौन ऐसा साहित्यकार होगा जो चतुर्दिक व्याप्त इस सघर्ष, असन्तुलन और असामजस्य से मुह मोड सके ? उसे इसका सामना करना ही होगा। सघर्ष को समाप्त कर सामजस्य स्थापित करना जैसे सबका कर्तव्य है, उसी प्रकार साहित्य-क्षेत्र मे साहित्यकार का भी यह परम कर्तव्य है।

व्यष्टि और समष्टि का समन्वय

साहित्य और समाज के सबध को समझने के लिए व्यक्तिगत मानस और लोक-मानस दोनो पर विचार होना चाहिये। जो एकन्त जीवन व्यतीत कर रहा है, उसे मानव-भावना की क्या आवश्यकता है। उसमे प्रेम, आदर आदि मानवीय गुण नही आ सकते। मानवीय गुणो की सृष्टि समाज मे ही होती है, और अतत मानवीय भावनाए ही साहित्य की उपलब्धि है। इस प्रकार साहित्य और समाज का सबध स्पष्ट हो जाता है।

साहित्य का दूसरा पहलू यह है कि वह व्यक्तिगत प्रयत्न का परिणाम है। यहाँ व्यक्ति का महत्व स्पष्ट हो जाता है। ससार मे शुरू से ही दो प्रकार की विचार-धाराए चलती रही हैं। एक के अनुसार व्यक्ति समाज के लिए है और दूसरे के अनुसार समाज व्यक्ति के लिए है। असल मे इन दोनो विचारधाराओ मे सन्तुलन होना चाहिये। इसी सतुलन से ही मानवता का कल्याण सभव है। सामाजिक नियमो का प्रतिपालन किये बिना व्यक्ति का विकास नही हो सकता और व्यक्ति की महत्ता को मिटाकर समाज भी समृद्ध नही हो सकता। राम, कृष्ण, गाधी, प्लेटो, न्यूटन, विवेकानन्द जैसे व्यक्तियो को मिटाकर क्या समाज विकास कर सकता है ? समाज के विकास के लिए विभूति से सुशोभित मानव चाहिये। यह अवश्य है कि किसी मे शरीर और किसी मे प्रतिभा की शक्ति होगी। दोनो प्रकार की शक्तियो का सम्मान होना चाहिये। इन दोनो के सहयोग से ही समाज की स्वस्थ रचना हो सकती है। ऐसे वातावरण का निर्माण होना चाहिये जिसमे इन दोनो शक्तियो का पूर्ण विकास हो सके। किसी भी हालत में

आत्माभिव्यक्ति का दमन न होना चाहिये। इससे समाज नष्ट हो जायगा साहित्य सजग आत्माभिव्यक्ति का ही दूसरा नाम है।

विज्ञान का उपयोग आवश्यक

विचारो के सघर्ष से ही नवीन विचार पल्लवित होते हैं और सत्य का पता चलता है। मनुष्य ने धीरे-धीरे प्रकृति पर विजय प्राप्त की। एक प्रकार से विज्ञान का जयघोष हुआ। नये विचारो से और विज्ञान की इस जययात्रा से मानव-कल्याण तभी सभव है जब व्यक्ति मानव-कल्याण की भावना से प्रेरित होकर कार्य करे। यदि उनके कार्यो के पीछे करुणा की, मैत्री की भावना न होगी तो वह ध्वस मे ही लगेगा। आज मानव विकास की उस अवस्था पर पहुच गया है जहा वह उच्च-से-उच्चतर और उत्कृष्ट होता जायगा। मानव की आत्मा के विकास के लिए इस बात की परख होनी चाहिये कि उसके प्रयत्नो से समाज कहा तक सुसस्कृत और सभ्य बना है। अधिकाधिक ऐसे मानवो को जन्म देना हमारा प्रधान कर्तव्य है जिनसे मानवता सुसस्कृत बने। इसके लिए व्यक्तिगत प्रतिभाओं को विकास का अनुकूल वातावरण मिलना चाहिये।

यहा यह प्रश्न उठता है कि अब तक राष्ट्र दरिद्र है, उसमे वर्गविषमता का विष व्याप्त है, ऐसे वातावरण का निर्माण कैसे हो सकता है ? मनुष्य ने विज्ञान का जो विकास किया है उसका लाभ उठाकर इस विषमता को दूर किया जा सकता है। प्राविधिक ज्ञान और औद्योगिक विकास को सुनियोजित कर हम समता और समृद्धि का युग ला सकते हैं। समता का यह तात्पर्य नही है कि सारा जनसमाज सम हो जायगा एक सा हो जायगा। ऐसा साम्य तो प्रलय है। समता का वास्तविक अर्थ हर व्यक्ति के लिए ऐसे समान अनुकूल वातावरण का निर्माण करना है जिसमे वह अपनी शारीरिक, बौद्धिक और मानसिक क्षमता का पूर्णतया विकास कर सके। उसे अपना सर्वांगीण विकास करने मे किसी प्रकार की बाधा न हो। राष्ट्र का वातावरण ऐसा हो जिसमे पापी-से पापी का भी सुधार हो सके। हम सबको समान प्रतिभाशाली नही बना सकते, किन्तु जो प्रतिभाए आज प्रतिकूल परिस्थितियो मे पडकर मर रही हैं, उन्हे जिला सकते हैं, उन्हे पनपने का मौका दे सकते हैं। दरिद्रता का

अभिशाप दूर कर हम लाखो, करोडो आदमियो को सुसंस्कृत बना सकते हैं। इससे हमारा राष्ट्र आगे बढेगा।

पश्चिम की महत्वपूर्ण देन

कोई भी विचारक समाज के निरतर विकास की उपेक्षा नही कर सकता। मानव-समाज आदिम युग से बराबर प्रगति कर रहा है। इस प्रगति मे बराबर समय-समय पर नये-नये आध्यात्मिक मूल्यो की सृष्टि हुई है। पूर्व मे विकास की अपनी परम्परा रही है, किंतु पश्चिम ने जो कुछ किया है उसकी उपेक्षा नही की जा सकती। कोई भी सजग चिन्तक पश्चिम की देन को अस्वीकार नहीं कर सकता। विज्ञान के क्षेत्र में-भाषण, लेखन और सघटन के क्षेत्र मे स्वतत्रता प्राप्ति के लिए पश्चिम के लोगो ने जो सघर्ष किया है वह मानवता के इतिहास मे अभूतपूर्व है। उससे मानव-चेतना का जैसा प्रसार हुआ है-जिन नये मूल्यो की सृष्टि हुई है—भारतीय साहित्यकार की प्रतिभा उससे प्रणोदित हुए बिना नही रह सकती।

सयुक्त राष्ट्र सघ के घोषणा पत्र को देखने से पता लगेगा कि मानव-समाज आरभिक युगो से कितना आगे बढा है। उसमे निखिल विश्व के मानव-समाज के मूलभूत अधिकारो की रक्षा का जैसा आश्वासन दिया है, वह उसके पूर्व सभव न था। उसमे पहली बार मानव-समाज के सघटन और प्रगति के लिए अन्तरराष्ट्रीय दृष्टिकोण की प्रतिष्ठा हुई है। यह दूसरी बात है कि अन्तर-राष्ट्रीयतावाद का खतरा बना हुआ है, किन्तु इससे राष्ट्रसघ के घोषणापत्र का ऐतिहासिक महत्व कम नही हो जाता। सारे ससार का मानव-समाज एक ही है—विश्व के राष्ट्रो द्वारा इसकी घोषणा से मानवता के एक नये युग का आरभ हो गया है। अब मनुष्य इसके पीछे नही लौट सकता।

नये मानव-समाज की समस्त उदीयमान शक्तियो के पीछे राष्ट्रसघ के घोषणापत्र मे उद्घोषित मानवमात्र के ऐक्य की भावना की प्रेरणा है। वे उदीयमान शक्तिया हमारे युग की देवशक्तिया हैं। इनसे लडने वाली आसुरी शक्तिया भी मौजूद है, किन्तु देवशक्तियो की विजय ध्रुव है। हमारे साहित्य मे इन्ही देव-शक्तियो का तेज व्यक्त होना चाहिये। आज का साहित्यकार अतिराष्ट्रीयता-वाद, वर्गवैपम्य, सामाजिक ऊच-नीच की भावना, धार्मिक और साम्प्रदायिक

संकीर्णता का कट्टर शत्रु है। उसमे अन्तरराष्ट्रीय शांति स्थापित करने की नयी उत्सुकता जग चुकी है। उसके सामने नये मानव-समाज का स्वप्न है। उसे मूर्तरूप देने तथा व्यक्तिगत और सामाजिक आचार-विचार मे नये मानव की प्रवृत्तियो को साकार करने के लिए वह सतत प्रयत्नशील है। इससे कौन इनकार कर सकता है कि नये मानव का यह स्वप्न पश्चिम के विज्ञान और प्राविधिक प्रगति के कारण ही सभव हो सका है। पश्चिम की वैज्ञानिक प्रगति को अपनाकर भी क्या हम दो सौ वर्ष पूर्व के वही पुराणपथी बने रह सकते हैं।

भारतीय संस्कृति की विशेषता

हमे नये जीवन के लिए नये उद्देश्य स्थिर करने होगे। हमारे देश की बहुत ऊची सस्कृति रही है। हमारी सस्कृति मे वे सभी तत्व मौजूद है जिनसे हम नवयुग और नव मानव का निर्माण कर सकते हैं। हमारी सस्कृति का सबसे बडा तत्व विभिन्न जीवन-प्रणालियो मे एकता और जीवन के हर क्षेत्र मे समन्वय स्थापित करना है। विशाल भारतीय सस्कृति के अतर्गत अनेक छोटी-छोटी सस्कृतिया हैं, किन्तु उनमे एकतानता है। इसी प्रकार, धर्म के भी अनेक स्वरूप हैं—सनातन, आर्य, जैन और बौद्ध। इनमे उपासना का भेद है, उत्सव—पर्व और साधना का भेद है, किन्तु इस भेद के होते हुए भी कुछ मुख्य बातो मे अद्भुत एकतानता और समरसता मिलती है। वैविध्य और वैभिन्य मे एकता का जो सूत्र है वह हमे सदा से अनुप्राणित करता रहा है। हमने जीवन मे इतने प्रयोग किये हैं कि पश्चिम के प्रयोग से हमे लाभ ही होगा, किसी प्रकार की क्षति नही हो सकती। हम पश्चिम के उच्च तत्वों को अपनी सस्कृति मे सहज ही आत्मसात् कर सकते हैं। आदान-प्रदान से ही सस्कृतिया पुष्ट और ऐश्वर्यमय हुआ करती है। हमे आदान-प्रदान का द्वार बन्द न करना चाहिये।

भारतीय सस्कृति की दूसरी विशेषता नैतिक व्यवस्था की स्थापना है। जीवन के सफल सचालन और स्वस्थ विकास के लिए एक-न-एक प्रकार की नैतिक व्यवस्था आवश्यक है। कर्मफल मे विश्वास प्रकट कर मानवीय कर्म को सहज ही महान् लक्ष्य की ओर प्रेरित करने के उद्देश्य से भारतीय सस्कृति में धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार पुरुषार्थों की प्रतिष्ठा हुई है। मोक्ष को हमारे यहा सर्वोच्च पुरुषार्थ माना गया है। मोक्ष से तात्पर्य मनुष्य की आध्यात्मिक

और बौद्धिक मुक्ति से है। योग के बिना कोई मोक्ष नही प्राप्त कर सकता। योग से तात्पर्य मन की समहित अवस्था और प्रवृत्तियो पर नियत्रण से है। हमारे यहा के सभी सम्प्रदाय, चाहे वे आत्मवादी हो या अनात्मवादी, इस विचारसरणि पर एकमत हैं। उन सब का गन्तव्य एक ही है—मानव की मुक्ति। कर्मफल की वासना न रखते हुए और शुभ कर्म करते हुए मोक्ष की ओर निरतर बढते जाना यही भारतीय सस्कृति का मूलाधार है।

हमे यह न भूलना चाहिये कि विभिन्न धर्मों के योग से ही विशाल भारतीय संस्कृति का निर्माण हुआ है। जैन और बौद्ध धर्म को नास्तिक कहकर उसकी उपेक्षा करने की वृत्ति हमे छोडनी पडेगी। यूरोपीय सस्कृति, यूनानी कला और साहित्य तथा रोमन-विधानो से बनी है। यूनानी और रोमन सस्कृति पर भी भारतीय सस्कृति की छाप पडी है। स्वतत्र भारत मे प्राचीन भारत की खोज होनी चाहिये। इस खोज से हमे पता चलेगा कि एशियाई महाद्वीप मे हमने अपने विचारो को फैलाया था—राजनीतिक और आर्थिक प्रभुत्व प्राप्त करने का प्रयत्न नही किया था। यह हमारा सास्कृतिक वैशिष्ट्य है, हमारी अमूल्य सम्पदा है। यदि हम इस सपदा के सच्चे उत्तराधिकारी बनना चाहते है तो हमे अपने सास्कृतिक गुणो को कायम रखने के लिए लगन और निष्ठा से अध्यवसाय करना होगा।

अतीत के प्रति मोह होना चाहिये, आदर होना चाहिये, किन्तु अन्धविश्वास नही होना चाहिये। आज के युग मे जो किसी प्रकार की सकीर्णता से आबद्ध रहना चाहता है वह आज के ससार का नागरिक होने के अयोग्य है। हमारी सस्कृति का एक बडा सन्देश आचरण की शुद्धता है। किसी देश मे काव्य, शास्त्र दर्शन का बहुत प्रचार होने पर भी यह आवश्यक नही है कि वहा के लोगो का पारस्परिक आचरण भी शुद्ध हो। अपना ख्याल रखते हुए दूसरो का भी ख्याल रखना सस्कृत का मूल है। मनुष्य एक-दूसरे के साथ की खोज मे बड़े-बडे सघटन बनाने की ओर प्रवृत्त हुआ। भोजन और विवाह बहुत जरूरी चीजे है। इसके लिए दूसरो से सम्पर्क स्थापित करना होता है और इस प्रकार समाज की रचना होती है। दूसरो के सुख-दु ख का ध्यान रखे बिना मानव-समाज ही नष्ट हो जायगा। इसीलिए हमारे यहा कहा गया है कि 'आत्मन प्रतिकूलानि परेषा न समाचरेत्, यह सामाजिकता का और मानवता

का मूलमन्त्र है। यदि हम दूसरो का दोष देखने की आदत छोड दें तो हमे अपने दोष दिखाई देने लगेंगे और हम अपना सुधार कर सकेंगे। इस प्रकार से सारे समाज का सुधार हो जायगा। इसीलिए हमारी सस्कृति मे आत्म-निरीक्षण पर बहुत ज्यादा जोर दिया गया है।

हमारा कर्तव्य: आश्रय की परावृत्ति

भारतीय सस्कृति की इस पृष्ठभूमि मे ही हम भारत के साहित्यकारो का कर्तव्य निर्धारित कर सकते है। दृढ सकल्प और विशाल हृदय से ही भारत में नये मानव का जन्म होगा। नये मानव का जन्म होने पर हमारे आश्रय की परावृत्ति (चित्तवृत्तियो का उत्तोलन, सब्लिमेशन) होगी, भारत का कायाकल्प होगा। नये मानवो के लिए ही नया भारत बना है। सत् साहित्य ने हमेशा से ही आश्रय की परावृत्ति का महान् उत्तरदायित्व वहन किया है, भविष्य मे भी उसे इसका भार वहन करना होगा।

●

समष्टि और व्यक्ति

आचार्य नरेन्द्रदेव

व्यक्ति और समष्टिका विवाद बहुत पुराना है। दार्शनिको मे भी दोनो मत-वादो के पक्षपाती पाये जाते हैं। प्लेटो ने अपनी 'रिपब्लिक' मे समष्टिवाद का समर्थन किया है। हेगेल ने अपने दार्शनिक विचारो मे इसी वाद का आश्रय दिया है। हेगेल के अनुसार सर्व समष्टि के प्रतिरूप इस बाह्य जगत मे सस्थाओ का आकार धारण करते हैं, भाषा, राय, कला, धर्म इसी प्रकार की सस्थाए है। इन सस्थाओ की अन्तरात्मा का आत्मसात् करने से ही व्यक्तिगत विकास होता है। सस्थाओ के विरुद्ध व्यक्तियो के कोई आध्यात्मिक अधिकार नही है। यह ठीक है कि इतिहास बताता है कि सस्थाओ मे परिवर्तन होता है, किन्तु यह परिवर्तन विश्वात्मा का काम है विश्वात्मा अपने महापुरुषो का वरण करता है। यही उसके उपकरण है। इनसे अन्यत्र व्यक्तियो का कोई हाथ नही होता। १९ वी शतीके अन्तिम भाग मे हेगेलवाद का सम्मिश्रण जीवशास्त्र के विकास-सिद्धान्त से हो गया। "विकास" (evolution) वह शक्ति है जो अपने लक्ष्य मे परिणत होता है। इसके विरुद्ध व्यक्तियो के भाव और उनकी इच्छाए अशक्त है अथवा इन्ही के द्वारा 'विकास' अपना कार्य सम्पन्न करता है। हेगेल के कुछ अनुयायियो ने सर्व समष्टि और व्यक्ति का सामजस्य करने की चेष्टा की। उन्होने समाज को समुदाय मात्र न मानकर एक अवयवी माना। इसमे सदेह नही कि व्यक्तिगत योग्यता के प्रयोग के लिये सामाजिक सगठन का होना आवश्यक है। किन्तु समाजको अवयवी मानने का यह अर्थ होता है कि प्रत्येक व्यक्ति का एक मर्यादित स्थान और उसकी एक नियत वृत्ति है और उसकी पूर्ति अन्य अवयवो और वृत्तियो से होती है। इसकी उपमा शरीर से दी जाती है। शरीर के विभिन्न अवयवो का अन्योन्य सम्बन्ध होता है तथा शरीर के साथ एक विशेष सम्बन्ध होता है। प्रत्येक अवयव की वृत्ति नियत

है। वह इस विषय मे स्वतन्त्र नही है। अपनी नियत क्रिया को सम्पन्न करने में ही अवयव की कृतकृत्यता है और इसी प्रकार शरीर की स्थिति सभव है। इस दृष्टान्त को समाज मे लागू करनेका यह फल होता है कि समाज के वर्गों का जो विभेद है उसको दार्शनिक आश्रय प्राप्त होता है।

समाजशास्त्रियों मे ऐसे विचार के भी हैं जो व्यक्ति पर समाज की प्रधानता स्वीकार करते हैं। यह समाज का भी अपना एक व्यक्तित्व मानते हैं। इनके अनुसार समाज व्यक्तियो का समुदाय मात्र नही है। समाज के व्यक्तित्व को यह मानव के व्यक्तित्व की अपेक्षा कहीं अधिक ऊचा मानते हैं। इसके अनुसार समुदाय तथा समाज, राष्ट्र, राज्य का ही वस्तुत व्यक्तित्व है। व्यक्ति एक क्षुद्र, अकिंचन अशमात्र है, समाजरूपी वृहत् शरीर का वह एक तुच्छ कण है।

इस विचार-सरणिका २० वी शती पर बड़ा प्रभाव पडा है। फैसिज्म को इसी से प्रेरणा मिली थी। राष्ट्र और राज्य सब कुछ हैं, व्यक्ति कुछ नही है। राष्ट्र और राज्य के व्यक्तित्व में अपने व्यक्तित्व को विलीन करने मे ही व्यक्ति की सफलता और परिपूर्णता है। इसी विचार ने राज्य को सर्वोपरि बना दिया और उसको मनुष्य के जीवन के सब विभागो पर पूर्ण अधिपत्य प्रदान किया।

इस विचार के फैलने के कई कारण हैं। पूजीवादी युग के जनतन्त्र की असफलता और बड़े पैमाने के उद्योग, व्यापार की अतिशय वृद्धि इसके कारण हैं। राजनीतिक जनतन्त्र व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा करता है और प्रत्येक व्यक्ति को वोट का अधिकार देता है, किन्तु गरीबी और बेकारी की समस्या को हल नहीं करता। इसका इलाज तो यह था कि अधूरे जनतन्त्र को पूर्ण किया जाय, आर्थिक क्षेत्र मे भी जनतन्त्र का प्रयोग किया जाय और इस प्रकार व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य की रक्षा करते हुए गरीबी और बेकारी को दूर किया जाय। किन्तु ऐसा न करके जनतन्त्र पर ही आक्रमण किया और उसका उपहास किया गया। इससे जनतन्त्र को आघात पहुचा और लोग यह समझने लगे कि राजनीतिक जनतन्त्र एक प्रकार का ढोंग है। लोगों का विश्वास जनतंत्र के उन मूल्यो पर से उठने लगा जिनको पश्चिमी यूरोप ने अनेक कष्ट सहकर और अनेक संघर्षों के पश्चात प्राप्त किया था। इससे फैसिज्म को बल मिला।

पूंजीवाद के प्रसार ने छोटे पैमाने के उद्योग, व्यापार को छिन्न-भिन्न कर

दिया। बैंको के पास अथाह् पूंजी हो गयी और वह भी इस पूंजी को प्रत्यक्ष रूप से उद्योग, व्यवसाय मे लगाने लगे। बडे-बडे व्यवसाइयो ने छोटे दूकानदारो पर भी धावा बोल दिया और उनके व्यापार को खत्म कर दिया। व्यवसाइयो के बडे-बडे समुदाय बन गये और इनका मुकाबला करना असम्भव हो गया। पूंजीवाद के विकास का यही प्रकार है। आर्थिक क्षेत्र मे जब यह व्यवस्था उत्पन्न हो गई तब इसका प्रभाव सामाजिक जीवन पर पडने लगा। जिस समाम मे धन का सबसे अधिक महत्व हो उस समाज मे आर्थिक पद्धति सामाजिक जीवन के सब आकारो को प्रभावित करने लगती है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति का महत्व केवल आर्थिक क्षेत्र मे ही नही किन्तु समस्त जीवन मे घट गया। व्यक्ति एक बडी मशीन का कल-पुर्जा मात्र रह गया और वृहत् समुदाय की तुलना मे तुच्छ और नगण्य हो गया। इस परिस्थिति मे अपने क्षुद्र व्यक्तित्व के विकास की बात सोचना अर्थशून्य हो गया, और जो इस प्रकार सोचता है वह समाज का शत्रु और व्यक्तिवादी समझा जाता है। राष्ट्र और राज्य के हित ही सर्वोपरि हैं और उनके लिए अपने व्यक्तिगत स्वार्थों का बलिदान करना प्रत्येक नागरिक का कर्तव्य है। नागरिक अधिकार, व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य आदि व्यर्थ की बकवाद है, और यदि वस्तुतः जनसाधारण सकल अधिकार और स्वत्व का प्रभव और उद्गम स्थान है तो राज्य जो जनसाधारण का प्रतिनिधित्व करता है, व्यक्ति पर प्रधानता पाने का अधिकारी है। इसीलिये शासक अपने शासन को सच्चा जनतन्त्र घोषित करते हैं।

समाजवादी भी इस विचारधारा से प्रभावित हुए। उन पर हेगेल के विचारो की छाप है। रैमजे मैकडोनाल्ड तक ने अपने ग्रन्थ मे लिखा है कि व्यक्ति उस दैवी घटना का उपकरण मात्र है जिस ओर सारी सृष्टि बढ रही है। राज्य सर्व समष्टि के राजनीतिक व्यक्तित्व का प्रतिनिधि है, वह समष्टि के लिए सोचता-विचारता है।

कुछ समाजवादियो का कहना है कि भविष्य के आदर्श समाज मे मनुष्य अपने व्यक्तित्व का अनुभ ही नही करेगा और हर प्रकारसे समुदाय मे विलीन हो जायगा। उसका जीवन सामुदायिक जीवन हो जायगा, उसके विचार, उसकी वेदना और उसकी अभिलाषाए सामुदायिक हो जायगी।

यह विचार-सरणि व्यक्ति के महत्व को सर्वथा विनष्ट कर देती हैऔर उसकी बलिवेदी पर समुदाय के महत्व को बढाती है। किन्तु मार्क्स तथा एगेल्स की शिक्षा के वह सर्वथा प्रतिकूल है। कम्युनिस्ट मैनिफेस्टो मे मार्क्स ने कहा है कि प्रत्येक के स्वच्छन्द विकास से सबका स्वच्छन्द विकास होता है। एक दूसरे स्थल पर मार्क्स कहते हैं कि श्रमजीवी तभी स्वतन्त्र है जब वह अपने उपकरणो का मालिक है। यह स्वामित्व दो मे से एक रूप धारण करता है और जब व्यक्तिगत स्वामित्व का नित्य लोप होता जाता है तब उसके लिए केवल सामुदायिक स्वामित्व रह जाता है। समाजवाद के उपक्रम के इतिहास पर यदि हम विचार करें तो मालूम होगा कि वह उस पूजीवादी समाज के विरोध मे उत्पन्न हुआ था जो मनुष्य को वस्तु-उपकरण मात्र बनाकर गुलाम बनाना चाहता था। मार्क्स व्यक्ति के पूर्ण विकास के लिए समाजवाद की स्थापनाचाहते थे। "समुदाय का अपना ऐसा कोई आन्तरिक महात्म्य नही है। इसकी आवश्यकता स्वतन्त्रता की गारटी देने के लिए है। समाज मे रहकर ही व्यक्ति का विकास सम्भव है और उद्योग-व्यवसाय के युग मे राष्ट्र की सम्पत्ति के समाजीकरण से ही इस स्वतन्त्रता और पूर्ण व्यक्तित्व का आधार सम्भव है। किन्तु समाजीकरण का फल यह होता है कि राजकर्मचारियो की प्रधानता हो जाती है और जब राजनीतिक और आर्थिक शक्ति राज्य मे केन्द्रित हो जाती है तब सारा झुकाव समुदाय को प्रधानता देने का हो जाता है। तब समुदायत्व ही सिद्धान्त बन जाता है। और जो आरम्भ मे एक लक्ष्य के पाने का उपकरण मात्र था वह स्वय लक्ष्य हो जाता है। इस दोष का निवारण हो सकता है और व्यक्ति स्वातन्त्र्य और सामुदायिक आर्थिक जीवन मे कोई नैसर्गिक नही है।
समष्टिवाद के विरुद्ध काण्ट व्यक्ति को किसी बाह्य उद्देश्य की पूर्ति का साधन नही मानता। उसका विचार है कि प्रत्येक मानव स्वत उद्देश्य स्वरूप है। उसका महत्व सबसे अधिक है। मानव गौरवपूर्ण है, उसके व्यक्तित्व का विकास सर्वोत्कृष्ट नियम है। इसे व्यक्तिवाद कहते है।" किन्तु कुछ लोगो ने इसे अति व्यक्तिवाद का रूप दे दिया। उनका कहना है कि व्यक्ति के विकास के लिए जायदाद पर उसका स्वामित्व होना आवश्यक है। स्वामित्व की कोई सीमा निर्धारित करनी चाहिये। यह अनियन्त्रित उद्योग, व्यापार के समर्थक हैं। उनका मत है कि इस स्वतन्त्रता का प्रतिषेध करना व्यक्तिगत स्वातन्त्र्य का प्रतिषेध करना है।

वस्तुत. व्यक्ति और समष्टि मे कोई नैसर्गिक विरोध नही है। आज के युग में आर्थिक क्षेत्र मे समुदायत्व अनिवार्य है। इस समुदायत्व को स्वीकार करके ही हम आगे बढ सकते है, यही मानव का उत्कृष्ट मूल्य है। उसको पूर्ण विकास का अवसर मिलना चाहिये। आज करोडो लोग इस अवसर से वचित है। परि-स्थितिया ऐसी हैं जो उसको विकास का अवसर नही देती। इन परिस्थितियो को बदलना चाहिये। स्वतन्त्र वातावरण मे ही व्यक्तित्व निखरता है, उसका विकास होता है। किन्तु स्वतन्त्रता का अर्थ उच्छृङ्खलता नही है, मर्यादाहीनता नही है। विकास-प्राप्त मानव सुसस्कृत है और दूसरो की स्वतन्त्रता का ध्यान रखता है, वह सयत होता है। समाज मे रह कर ही मानवोचित गुणो का विकास होता है। दया, भ्रातृत्व, त्याग आदि गुण समाज मे रह कर ही प्रादुर्भूत होते है। समाज द्वारा ही मानव का विकास हुआ है। किन्तु यह विकास कुछ मर्यादा स्वीकार करके ही हो सकता है। अन्तर इतना ही है कि एक मर्यादा या नियन्त्रण स्वेच्छा से स्वीकार किया जाता है, दूसरा बाहर से आरोपित होता है। समाज मे रह कर तरह-तरह के नियम मानने पडते है, अन्यथा समाज विशृखल हो जाता है और किसी को भी विकास का अवसर नही मिलता। अत सबकी स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए उचित मर्यादा का स्वीकार करना आवश्यक है। किन्तु यदि राज्य की ओर से व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण होता है, यदि उसके नागरिक अधिकार सुरक्षित नही है, यदि उसको अपने भावों के व्यक्त करने तथा दूसरो के साथ सहयोग कर किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए सगठन बनाने की स्वतन्त्रता नही है तो व्यक्ति के विकास मे बाधा पहुचती है।

प्राचीन भारत मे वर्णाश्रम की व्यस्था थी। इसकी रक्षा करना राज्यका कर्तव्य था। सामाजिक सगठन मे राज्य का हस्तक्षेप नही होता था। समाज वर्णों मे विभक्त था। प्रत्येक वर्ण की जीविका नियत थी, सामाजिक नियन्त्रण कुछ बातो मे कठोर था। खानपान, विवाह-सम्बन्ध और जीविका के विषय मे कठोर नियन्त्रण था। किन्तु विचार की स्वतन्त्रता थी। आप चाहे ईश्वर के अस्तित्व को मानें या न मानें, आपका धर्म चाहे वेद बाह्य हो, आप समाज से बहिष्कृत नही हो सकते। किन्तु जिस काल मे प्रतिलोम विवाह मना था उस काल मे प्रतिलोम विवाह करने पर समाज से पृथक होना पडता था और जिस

काल मे केवल सवर्ण विवाह की ही अनुज्ञा थी उस काल में असवर्ण विवाह करने पर समाज से अलग होना पडता था । इसी प्रकार अन्त्यज अपनी जाति के रिवाज और नियमो से बधे हुए थे । जो अधिकार द्विजो को प्राप्त था वह शूद्रो और दूसरे लोगो को नही था । आजीविका के कुलागत होने के कारण और प्रत्येक वर्ण की आजीविका के नियत होने के कारण स्वाभाविक विकास में रुकावट होती है । किन्तु जो सन्यास ग्रहण करता था और घरबार छोड कर आध्यात्मिक चिन्तन मे लगता था उसके लिए सामाजिक नियम नहीं थे । श्रमण सब कोई हो सकते थे और नि श्रेयस की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो सकते थे । मोक्ष परम पुरुषार्थ है । उपनिषदो मे लिखा है कि मनुष्य से श्रेष्ठतर कुछ नही है । स्वर्ग और नरक भोग-भूमिया हैं । मनुष्य-जन्म मे ही मोक्ष की साधना हो सकती है । भव-चक्र से छुटकारा पाना और सब बन्धनो से विनिर्मुक्त होना जीवन का चरम लक्ष्य समझा जाता है । सब दर्शनो का ध्येय मोक्ष, अपवर्ग, नि श्रेयस या निर्वाण है । इस अर्थ मे सब दर्शन मोक्षशास्त्र हैं । जो परम पुरुषार्थ के लिए यत्नशील है वह साधारण जन के समान आचरण नही करता । उसकी चर्या भिन्न है, उसका समाज मे सबसे अधिक आदर होता है । उसके लिए समाजके बन्धन नहीं हैं । अत हमारे देश मे आध्यात्मिक जीवन के विषय मे व्यक्ति-स्वातन्त्र्य था । किन्तु सामाजिक बन्धन कुछ बातो मे कठोर था । प्राचीन काल मे सब देशों मे अपने समाज पर व्यक्ति को बहुत कुछ आश्रित रहना पडता था । यही बात यहा भी थी । इसीलिए व्यक्ति पर समाज का नियन्त्रण भी अधिक था । सम्मिलित कुल की प्रणाली मे कुल का कठोर नियन्त्रण होता है । कुल इकाई समझा जाता है, व्यक्ति नही । मनुष्यो का सगठन कुल-कबीलो से गुजर कर राष्ट्र के स्तर तक पहुचा हैं और अब वह साधन एकत्र हो रहे हैं जो एक ससार एक राज्य की भावना को साकार कर सकते हैं । पश्चिम यूरोप का व्यक्ति किस प्रकार कुल और धार्मिक संस्थाओं के नियन्त्रण मे स्वतन्त्र हुआ है और किस प्रकार उसने राज्य के विरुद्ध लडकर नागरिक अधिकार प्राप्त किये हैं इसका इतिहास बडा रोचक है । प्राचीन काल मे हमारे यहाँ राज्य की ओर से कोई ऐसे नियन्त्रण न थे जिनसे विचार स्वातन्त्र्य को क्षति पहुचे । समाज का नियत्रण अवश्य था । उसकी ओर से भी विचार की स्वतन्त्रता मे कोई बाधा न थी । किन्तु कुछ विषयो मे कार्य की स्वतन्त्रता न थी । समष्टि का इन विषयो मे व्यक्ति पर अक्षुण्ण अधिकार था ।

यह स्पष्ट है कि व्यक्ति को अमर्यादित स्वतन्त्रता नही दी जा सकती, क्योकि सब व्यक्तियो की स्वतन्त्रता की रक्षा करनी है। मर्यादा को स्वीकार करके ही व्यक्तित्व का विकास सम्भव है। व्यक्ति को स्वीकार करना पडेगा। यह ठीक है कि व्यक्ति पर परिस्थिति का प्रभाव पडता है, किन्तु यह भी सत्य है कि व्यक्ति परिस्थिति को बदलता है। मानव और प्रकृति की एक दूसरे पर क्रिया-प्रतिक्रिया होती रहती है। जीवन और समाज स्थिर नही है। उनको बदलने की आवश्यकता पडती रहती है। यदि व्यक्ति की स्वतन्त्रता का लोप हो जाय और कानून, परम्परा और रूढि द्वारा उसको स्वतन्त्र रीति से सोचने और काम करने का अधिकार न दिया जाय तो समाज की उन्नति का क्रम बन्द हो जाय और मानवोन्नति असम्भव हो जाय। इतिहास बताता है कि जिस समाज मे व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अपहरण किया गया और राज्य या समाज की ओर से विचारो का दमन हुआ उस समाज मे गत्यवरोध हुआ और उसका ह्रास और पतन हुआ। विचार और सस्था के इतिहास मे एक समय आता है जब वह जड और स्थिर हो जाती है। परिस्थितिया बदल जाती हैं और नये विचारो और नयी सस्थाओ की माग करती है। किन्तु पुराने विचार और पुरानी सस्थाए मनुष्य पर प्रभाव जमाये रहती है कि वह नये सिरे से सोचने को तैयार नही होता। अत समाज के स्वस्थ जीवन के लिए ऐसे केन्द्र चाहिए जहा से पुराने विचारो और सस्थाओ की आलोचना होती रहे और जिनसे नये विचारो के उपक्रम मे सहायता मिलती रहे जिसमे जीवन का प्रवाह कभी रुके नही और जीवन किसी सोते मे अवद्ध न हो। इसके लिए विचार-विनिमय की स्वतन्त्रता अपेक्षित है।

यदि प्रत्येक अपनी मर्यादा को समझे तो व्यक्ति और समष्टि मे कोई झगडा नही है। आखिर, यह व्यक्ति का विकास है क्या? अपनी निहित शक्तियो का पूर्ण आविर्भाव। यह कार्य समाज मे रह कर ही होता है, अन्यथा नही। ज्यो ज्यो समाज ऊचे स्तर मे उठता है त्यो त्यो व्यक्तित्व के विकास की गहराई बढती जाती है। एक कबीले के व्यक्ति और राष्ट्र के व्यक्ति की परस्पर तुलना करने से मालूम होगा कि राष्ट्र के विचार, अनुभव और कल्पना मे कितना आकाश पाताल का अन्तर हो गया है। धीरे-धीरे व्यक्तित्व समृद्ध होता है। पुन एक अन्तरराष्ट्रीय व्यक्ति जो सकल विश्व को अपने व्यक्तित्व मे समा

लेता है, राष्ट्र की सीमा का उल्लंघन करता है, जाति, धर्म, रंग का भेद न कर मनुष्य मात्र के प्रति आदर और प्रीति का भाव रखता है, तथा विश्व-बन्धुत्व की भावना से प्रेरित हो अपने सब कार्यों को करता है। उसके व्यक्तित्व की उदारता, समृद्धि तथा वैचित्र्य का क्या कहना ? उसकी सूक्ष्म दृष्टि, उस की गम्भीर और कोमल अनुभूति सकल विश्व से उसका तादात्म्य स्थापित करती है। ऐसा मनुष्य जगद्वन्द्य है। ऐसे व्यक्तित्व के लिए स्वच्छन्द वातावरण चाहिये। अतः व्यक्ति और समष्टि के बीच सामंजस्य करना होता है। समाज का उचित हस्तक्षेप कहां और किस दरजे तक हो सकता है तथा वह कौन-सा क्षेत्र है, उसकी क्या सीमाएं हैं जिसमें व्यक्ति का एक मात्र आधिपत्य होना चाहिये, इन बातों का निर्णय होना आवश्यक है।

हमारे समाज में विचार-स्वातंत्र्य रहा है। इसके कारण धार्मिक सहिष्णुता भी रही है। इसी कारण आज भी हम स्त्रियों को या हरिजनों को राजनीतिक अधिकार देने का विरोध नहीं करते। यूरोप को या रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेंटों को वोट के सामान्य अधिकार के लिए कितना संघर्ष करना पड़ा है। हां, हमारे यहां सामाजिक अधिकार देने के लिए अवश्य विरोध किया जाता है। इस विचार स्वातंत्र्य की जो हमारी सबसे बड़ी निधि है, हमको रक्षा करनी है और उसकी युग के अनुकूल वृद्धि भी करनी है। बिरादरी के बन्धन ढीले हो रहे हैं, व्यक्ति उनके कठोर नियंत्रण से मुक्त हो रहा है। किन्तु एक ओर अति-व्यक्तिवाद का भय है और दूसरी ओर यह भय है कि कहीं भविष्य में अति-समष्टिवाद व्यक्ति को ग्रसित न कर ले। हमको इन दोनों भयों का प्रतिकार करना है और एक ऐसी व्यवस्था के लिए यत्नशील होना है जो व्यक्ति और समष्टि का उचित समन्वय कर सके। इसमें सन्देह नहीं कि मानव से श्रेष्ठतर कोई वस्तु नहीं है। किन्तु यह भी सत्य है कि समाज में रह कर ही मानव इसका अधिकारी बन सकता है। समाज से वह अपनी शक्तियों के विकास के लिये सामग्री पाता है, समाज में ही वह अपनी शक्तियों का प्रयोग कर उनको विकसित करता है और समाज को ही अपना सर्वस्व देकर पूर्ण और कृतकृत्य होता है।

भारतीय धर्म

आचार्य नरेन्द्रदेव

भारतीय धर्म एक उदार और विशाल धर्म है। यह सम्प्रदाय विशेष नही है। यह ठीक है कि इसके गर्भ से समय-समय पर अनेक सम्प्रदायो का जन्म हुआ, किन्तु यह भी ठीक है कि इन विविध सम्प्रदायो के अतिरिक्त एक ऐसा भी धर्म है जिसको सम्प्रदाय की व्याख्या नही प्रदान की जा सकती। सम्प्रदाय का कोई व्यक्ति विशेष प्रवर्त्तक होता है, उसके निश्चित पवित्र ग्रन्थ होते हैं जो उस प्रवर्त्तक की कृति हैं अथवा जिनको आदि प्रवर्त्तक की वाणियो या सवादो का सग्रह समझा जाता है। यह ग्रन्थ पवित्र और प्रामाणिक माने जाते हैं। ऐसा समझा जाता है कि सब बातो का अन्तिम उत्तर इनमे दिया गया है। जो उस आदि सम्प्रदाय के मानने वाले है वह अपने-अपने पक्ष का समर्थन उसी ग्रन्थ का उद्धरण देकर करते हैं। कभी-कभी सम्प्रदाय के भीतर भी अनेक वाद प्रचलित हो जाते हैं किन्तु इनमे से एक भी ऐसा नही है जो ग्रन्थ की प्रमाणिकता को स्वीकार न करता हो, अपने-अपने पवित्र ग्रन्थ के अतिरिक्त वह आदि प्रवर्त्तक को पैगम्बर या गुरु मानते हैं। पैगम्बर या गुरु का जीवनचरित्र अनुयायियो के लिये पथप्रदर्शक होता है। साथ-साथ प्रत्येक सम्प्रदाय के कुछ सस्कार और अनुष्ठान होते हैं जो उसको अन्य सम्प्रदायो से व्यावृत्त करते है। इन्हीं के आधार पर हम बता सकते है कि अमुक सम्प्रदाय के यह लक्षण हैं। उदाहरण के लिए हम कह सकते हैं कि इसलाम का मानने वाला वह है जो एक ईश्वर मे विश्वास करता है और मुहम्मद साहब को उनका पैगम्बर मानता है तथा कुरान और हदीस को प्रामाणिक मानता है। नमाज, जकात, रोजा आदि उसके अनुष्ठान और धार्मिक कृत्य हैं। इन सम्प्रादायो मे से कुछ ऐसे हैं जो सार्व-भौमिक होते हैं, अर्थात् उनमे सब देश और जाति के लोग सम्मिलित हो सकते हैं। कुछ ऐसे भी हैं जो स्थानीय हैं, उनका प्रभाव देश विशेष तक ही सीमित रहता है। जो सार्वभौमिक हो जाते हैं उनमे कुछ ऐसी विशेषता अवश्य होती

है जो उनको जाति और देश का अतिक्रमण करने मे समर्थ बनाती है। किन्तु यह सब होते हुए भी यह सब धर्म सम्प्रदाय विशेष है। इसका अर्थ यह है कि जहाँ इनमे उदारता है वहा इनमें एक प्रकार की सकीर्णता भी है। अपने सम्प्रदाय के लोगों को ही यह स्वर्ग या मोक्ष का अधिकारी समझते हैं। चरम लक्ष्य प्राप्ति का यह एक ही मार्ग मानते हैं और यह मार्ग वही है जिसका अन्वेषण या निर्देश सम्प्रदाय के आचार्य, प्रवर्त्तक, शास्ता या पैगम्बर ने किया है। जो सम्प्रदाय से बाहर के है उनके लिए स्वर्ग या मोक्ष नही है। इसके अतिरिक्त यह तीर्थिको को अर्थात् अन्य सप्रदाय के मानने वालो को हीन समझते हैं और कभी-कभी उनके साथ विद्वेष भी करते हैं।

किन्तु जिस भारतीय धर्म का मैंने ऊपर उल्लेख किया है वह ऐसा नही है। उसका न कोई आदि प्रवर्त्तक है और न उसके कोई ऐसे अनुष्ठान या कृत्य विशेष हैं जिनको हम उसका लक्षण ही बता सकें। उसका कोई एक पवित्र ग्रन्थ भी नही है जिसको वह एक मात्र प्रमाण माने। वह दूसरो के पवित्र ग्रन्थों को अपना लेता है, यही कारण है कि उसकी व्याख्या नहीं हो सकती। जैसे ब्रह्म के लिए हम नेति-नेति कहते है वैसे ही इसके लिए भी हम इतना ही कह सकते है कि यह अमुक धर्म नही है, किंतु यह निश्चित रूप से नहीं कह सकते कि यह क्या है। इसका कोई स्थिर रूप नही है। इसमे सदा विकास होता रहता है। यद्यपि हम इसका लक्षण नही बता सकते तथापि हम इसके अस्तित्व का अनुभव करते हैं। यदि इसे कोई नाम देना चाहें तो हम व्यापक रूप मे इसे सनातन धर्म के नाम से सकीर्तित कर सकते हैं। किन्तु सनातन धर्म नाम भी आज एक सम्प्रदाय विशेष के अर्थ मे प्रयुक्त होता है। इसीलिए इसे भारतीय धर्म कहना पसन्द करता हूँ। भारत की अधिकाश जनता इसी धर्म को मानती है। यद्यपि सम्प्रदायो का उस पर प्रभाव पडा है, तथापि मुख्य-मुख्य बातो मे यह आज भी उदार है। इस धर्म का विश्वास है कि स्वर्ग और मोक्ष लाभ के अनेक मार्ग हैं और प्रत्येक व्यक्ति अपने-अपने धर्म मे रहकर मोक्ष की प्राप्ति कर सकता है। स्पष्ट है कि यह साम्प्रदायिक दृष्टि नही है। यह मानता है कि लोगो की रुचि भिन्न-भिन्न होती है और विविध मार्ग पर चलकर भी एक ही लक्ष्य पर पहुचा जा सकता है। पुन इसकी मान्यता है कि अनुष्ठान, संस्कार विशेष सम्प्रदाय विशेष के चिन्ह है, अमुक-अमुक सम्प्रदाय के लोगो को इन कृत्यो को करना चाहिए, किन्तु इसका यह अर्थ नही है कि दूसरो के लिए भी इनका कोई मूल्य है अथवा चरम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए इनकी नितान्त आवश्यकता पडती है। प्रत्येक धर्म के लिए कुछ अनुष्ठान और कृत्यो की

आवश्यकता पड़ती है। इन्हीं के द्वारा जनसमूह का आचरण व्यवहार बनाता है। यह देश और काल पर निर्भर करता है, किंतु यह सत्य, अहिंसा आदि का स्थान नहीं ले सकते, किन्तु सम्प्रदायवादी अपने-अपने अनुष्ठानों को बड़ा महत्व देते हैं और जो उनको नहीं मानते उनके लिए सुख और निःश्रेयस् का मार्ग अवरुद्ध समझते हैं। सम्प्रदाय न होने के कारण इसकी दूसरी विशेषता यह है—कि यह किसी एक व्यक्ति को पैगम्बर या गुरु नहीं मानता। दूसरे सम्प्रदायों के गुरुओं को अपनाने में इसे झिझक नहीं होती। जहाँ-जहाँ वह विभूति, श्री और ऐश्वर्य देखता है उसी को वह ईश्वर के तेज का अंश समझता है। हिन्दुओं ने भगवान् बुद्ध को भी अवतार माना। वह सब सन्तों को मानता है, सबकी वाणी को सुनाता है। वह मुसलमान सूफी फकीरों को भी मानता है, उनकी दरगाह पर भी मिन्नत करता है। यदि राजनीतिक कारण उपस्थित न हो गये होते तो आज भी वह ऐसा ही करता। क्योंकि यह सब धर्मों को मोक्ष का उपाय मानता है, इसलिए वह किसी धर्मके विरुद्ध प्रचार नहीं करता। दूसरों को अपने धर्म में दीक्षा देने का प्रयत्न नहीं करता। यदि किसी सम्प्रदाय के किसी व्यक्ति को उसकी साधना पसन्द है तो वह उसे अपने सम्प्रदाय में रहते हुए उस साधना का साधक बना लेता है, धर्मपरिवर्तन की अनुमति नहीं देता। यदि उसकी बस्ती के चारों ओर रहने वाले लोग किसी धर्म विशेष में दीक्षित नहीं हैं, और उसके प्रभाव में आकर उसके आचार-विचार को स्वीकार करना चाहते हैं, तो वह इसकी सुविधा उत्पन्न कर देता है।

इन्हीं गुणों के कारण दूसरे जो उससे अलग होते हैं और अपना एक पृथक सम्प्रदाय बना लेते हैं उनको यह अपने से अलग नहीं होने देता। भारतीय धर्म की इस अद्भुत शक्ति को विद्वानों ने स्वीकार किया है। भारतीय धर्म में अनेक पन्थ उत्पन्न हुए। भारतीय जनता ने उनके गुरुओं का आदर किया और अपनी श्रद्धा के फूल चढ़ाये। अन्त में भारतीय धर्म की विजय हुई, और समाज से अलग हुए यह सम्प्रदाय भारतीय धर्म के दायरे में फिर आ गये। यहाँ एक दो उदाहरण देना पर्याप्त होगा। सिख सम्प्रदाय के दशम् गुरु ने सिखों का संगठन किया और उनको कुछ विशेष चिह्न धारण करने की आज्ञा दी। धीरे-धीरे साधारण समाज से सिखों का पार्थक्य होने लगा, किन्तु हिन्दुओं ने गुरुओं की उपासना की और उनको समाज का रक्षक समझ अपने प्रत्येक संस्कार के अवसर पर गुरु ग्रंथ साहब का भी पाठ कराया। धीरे-धीरे यह पार्थक्य दूर

होने लगा और सिख अपने को हिन्दू समझने लगे। मैकोलिक जिसने ६ जिल्दों मे सिखो का इतिहास लिखा है, पुस्तक की भूमिका मे लिखता है कि सन् १९०८ मे सिख युवको को यह देखकर कि वह हिन्दू हैं मुझे आश्चर्य हुआ और अन्त मे वह इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि भारतीय धर्म मे एक ऐसी शक्ति है जो उन लोगो को भी अपने पास ले आती है जो उससे दूर रहना चाहते हैं। मध्य युग मे सन्त और सूफियो ने जो हिन्दू-मुसलमानो को मिलाने का सफल प्रयत्न किया वह भी इसी भारतीय धर्म की अन्तरात्मा का प्रदर्शन है। भारतीय मुसलमानो को भी यह मानना पडा कि प्रत्येक को अपने-अपने धर्म का आचरण करना चाहिए। दूसरा उदाहरण आर्यसमाज का है। एक समय था जब आर्य-समाज के उपदेशक अपनी सारी शक्ति सनातन धर्म की (जिसे यह पौराणिक धर्म कहते है) टीका-टिप्पणी मे व्यय करते थे। आये दिन सनातनियो से उनके वाद-विवाद होते थे। इन्ही के कटु प्रचार ने भारत धर्म महामडल को जन्म दिया था। अब आज यह टीका-टिप्पणी नही के बराबर है और शास्त्रार्थ भी बन्द हो गये हैं। समाज-सुधार की जो शिक्षा आर्यसमाज ने दी उसे भारतीय समाज ने स्वीकार सा कर लिया और आर्यसमाज के प्रवर्त्तक के प्रति अपना आदर प्रकट कर आर्यसमाज के धार्मिक प्रचार के कार्य को एक प्रकार से कुठित सा कर दिया।

जब तक हम भारतीय धर्म के इस महत्व को नही समझेंगे, यह समझना कठिन है कि हमने विविधता मे एकता का कैसा सफल अन्वेषण किया। हमारा देश विशाल है। इसमे अनेक जातियाँ बसती थी। बाहर से भी समय-समय पर अनेक जातियाँ आक्रमणकारी के रूप मे आयी और यहाँ बस गयी तथा भारतीय समाज मे घुल-मिल गयी। विभिन्न जातियो के अपने-अपने विश्वास थे। इन सब मे सामजस्य करना एक दुष्कर कार्य था और बिना किसी प्रकार का समन्वय किये परस्पर के सघर्ष से समाज की रक्षा करना सम्भव न था। दो ही उपाय थे। या तो सबको चाहे इच्छा से हो या अनिच्छा से, एक किसी धर्म मे दीक्षित कर लिया जाता, विविवता की रक्षा करते हुए एकता प्रतिष्ठित की जाती। भारत ने दूसरा मार्ग अपनाया। उस समय पहला मार्ग स्वीकार करना सम्भव भी न था, और यह मार्ग श्रेयस्कर भी न था इसलिए कुल, देश, जाति के आचार मान्य किये गये तथा धार्मिक विश्वासो और सिद्धान्तो की अपेक्षा समाज-व्यवस्था पर अधिक जोर दिया गया। चातुर्वर्ण्य और चातुराश्रम के सिद्धान्त को समाज-व्यवस्था का आधार बनाया गया और जब देखा कि चार से कही अधिक जाते हैं तो उनको चार वर्णों के परस्पर के

अनुलोम प्रतिलोम विवाह के आधार पर बना हुआ माना। समाज-व्यवस्था के साथ-साथ भारतीय धर्म के तत्वो पर जोर दिया गया। अर्थात् एक ओर विविधता को मान्यता देते हुए समाज के प्रचलित विभागो को चातुर्वर्ण्य के सिद्धान्त के अनुकूल प्रतिपादित करने की चेष्टा की गयी, जिससे वह एक ही समाज के अग माने जा सकें और दूसरी ओर प्रचलित धार्मिक सम्प्रदायो मे भारतीय धर्म के उदार तत्वों को निहित करने का प्रयत्न किया गया। यह उदार तत्व किसी एक ग्रथ मे उपनिबद्ध नही है। आप इनको उपनिषदो मे, सन्तो की वाणी मे, और इनसे भी कही अधिक, सामान्य जनता के जीवन मे बिखरा हुआ पायेंगे।

आध्यात्मिक शिक्षा के क्षेत्र मे एकत्व की इसी बुद्धि ने योग द्वारा ईश्वरवादी, अनीश्वरवादी, अनात्मवादी को मिलाया और एक लक्ष्य पर पहुचाया। यह आश्चर्य की बात है कि न्याय, वैशेषिक, वेदान्त, बौद्ध, जैन दर्शन सभी योग द्वारा मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति बताते है। सामजस्य की इसी बुद्धि के कारण भारत मे धर्म के नाम पर बहुत कम रक्तपात हुआ। प्राय सब राजाओ ने सब धर्मों का सत्कार किया और धार्मिक सहिष्णुता की शिक्षा दी। इसी भाव के प्रताप से मुसलमान बादशाहो ने भी हिन्दू मन्दिरो को जागीरें दी और आरम्भ में ईस्ट इडिया कम्पनी भी हिन्दू-मुसलमानो के पवित्र स्थानो की देख-रेख करती थी।

भारतीय धर्म का यह उदार भाव कभी-कभी दुर्बल हो जाता है, किन्तु इसमे सन्देह नही कि बार-बार विताडित होने पर भी नष्ट नही होता। अभी जब भारत का बटवारा हुआ और उसके फलस्वरूप हिंसा और बर्बरता का नग्न रूप देखने को मिला तब मन मे विचार आया कि उस उदार भाव की अत्येष्टि हो रही है, किन्तु थोडे समय के पश्चात् ही भारतीय हृदय बहुत कुछ निर्मल और स्वच्छ होने लगा और यह प्रतीति हुई कि वह पुराना उदार भाव अब भी जीवित है। पडितो की पाठशाला और विद्वानो की गोष्ठी मे तथा तीर्थों मे यह उदार भाव नही मिलेगा। यदि इसे देखना है तो अनपढ ग्रामीणो के खेतो और चौपालो मे इसे ढूढिये।

यही उदार भाव सब प्राणियो मे अपने को और अपने मे सब प्राणियो को देखने के लिए विवश करता है। यही ममत्व का योग है। यही उपनिषदो की शिक्षा है। इसीलिए कहा गया है कि वह स्वराज्य का अधिगम करता है।

किन्तु आज की अवस्था मे यह प्रकार पूर्ण रूपेण मफल नही हो सकता। यह ठीक है कि सर्वरूपेण एकरूपता कभी नही हो सकती, विविधता का होना स्वाभाविक है, अत समन्वय की बुद्धि की सदा आवश्यकता रहेगी। किन्तु राष्ट्रवाद के युग मे एक देश मे रहने वाले लोगो के आचार मे अधिक से अधिक साम्य होना चाहिए। रेल, तार और विज्ञान विविधता को मिटा रहे हैं। धर्म का प्रभाव ही क्षीण हो रहा है। आधुनिक सुविधाओ के कारण जनता बडे-बडे समुदायो मे सगठित हो रही है। रेडियो और प्रचार के अन्य साधन एकता के कार्य को सुलभ बना रहे हैं। हमारी पुरानी समाज-व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो रही है। यह जन-जागरण का युग है। सब अपने अधिकारो के लिए सघर्ष कर रहे हैं। ऐसे युग मे जब तक एकता के नये साधन नही निकाले जावेंगे, तब तक सघर्ष और विद्रोह की सम्भावना बनी रहेगी। भिन्न-भिन्न आचार के समुदायो मे तीव्र सघर्ष हो सकता है। जब तक सबके लिए कुछ ऐसे प्रतीक और उद्देश्य न हो जो समान हैं तब तक भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के बीच होने वाले सघर्ष आज के युग मे बडे भीषण होगे। जहाँ एक ओर शाति और सहयोग के साधन बढ रहे हैं, वहाँ दूसरी ओर विद्वेष और विद्रोह के लिये भी सुविधाएँ बढ रही हैं। आज प्रत्येक राष्ट्र को आचार-साम्य की चेष्टा करनी चाहिए। जब धर्म के क्षेत्र से जीवन के विविध अग बहिष्कृत हो रहे हैं तब धर्म या सम्प्रदाय का विचार न कर सबके लिये एक ही कानून होना चाहिए। एकरूपता का यह कार्य बलपूर्वक नही हो सकता क्योंकि बल का प्रयोग करने से तीव्र प्रतिक्रिया होती है और विरोध बढ जाता है। यह कार्य सब बालक-बालिकाओ की समान शिक्षा-दीक्षा से होना चाहिए तथा धीरे-धीरे एक वेशभूषा, एक राष्ट्रभाषा, एक कानून का प्रवर्तन होना चाहिए। आचारो की विभिन्नता राष्ट्रीयता को दुर्बल करती है। अत उनमे यथाशक्य एकरूपता लाने का प्रयत्न होना चाहिए। पश्चिम की शिक्षा द्वारा यह कार्य थोडा-बहुत सम्पन्न हुआ था, अब नये ढग से इस काम का करना है। किन्तु जैसा कहा जा चुका है, विविधता सर्वथा नही मिट सकती। एक राष्ट्र के भीतर एकरूपता का यह काम हो सकता है, किन्तु ससार मे तो यह विविधता बहुत दिनो तक रहेगी। शाति-रक्षा के लिए तथा युद्ध को रोकने के लिए भारतीय उदार धर्म के तत्व की अब भी आवश्यकता है। राष्ट्र-राष्ट्र के बीच सौहार्द्र और सहयोग स्थापित करने मे इससे सहायता मिलेगी। इस उदात्त भाव की आज विशेष आवश्यकता है। केवल युग के अनुरूप उसके बाह्य रूप और आकार को बदलना है।

●

एक निजी पत्र

बरेली सेन्ट्रल प्रजिन,
१६–५–४५

प्रिय रमेन्द्र,

आपका पत्र ३० अप्रैल को मिला था। कुछ आवश्यक पत्र लिखने थे इस कारण उत्तर देने मे विलम्ब हुआ। क्षमा चाहता हू। आपके भाई साहब को मेरा पत्र मिल गया होगा।

यह जानकर प्रसन्नता हुयी कि आप समय का सदुपयोग कर रहे है और पुस्तको के पढने मे समय व्यतीत करते हैं। मैं समझता हू कि पुस्तको के मिलने मे बहुत कठिनाई होती होगी किन्तु आपके पत्र से अवगत हुआ कि पुस्तको की उतनी कमी नही है जैसा कि मेरा ख्याल था। यह जानकर विशेष प्रसन्नता हुयी कि आप प्राचीन भारत के इतिहास का अध्ययन नवीन दृष्टि से करने का प्रयत्न कर रहे है। सामग्री की कमी से तथा इस कारण कि इस दिशा मे काम नही हुआ है यह कार्य सुगम नही है। मैं बराबर इस कार्य के महत्व को अनुभव करता रहा हू किन्तु अवकाश न मिलने के कारण इस कार्य को स्वय न कर सका। वस्तुत यह काम एक व्यक्ति का है भी नही, कई विद्वानो के सहयोग से ही यह काम हो सकता है, किन्तु नवीन दृष्टि रखने वाले इतिहास वेताओ की नितान्त कमी है। अपने प्राचीन दार्शनिक विचारो की भी नवीन पद्धति से आलोचना होनी चाहिये, उनके ठीक-ठीक मूल्य को आकना बहुत जरूरी है। मेरा तो यह निश्चित मत है कि इस कार्य का अभाव हमारी उन्नति मे बाधक है।

जब कोई दार्शनिक मत सुपल्लवित होता है तो उसका जीवन से घनिष्ट सम्बन्ध होता है। दार्शनिक पडितो मे भले ही छोटी-छोटी बातो को लेकर वाद विवाद हो किन्तु जब विचार सरणी मे कोई मौलिक परिवर्तन होता है तो वह कोरे पडित से ही उत्पादित नही होता किन्तु उसके गम्भीर कारण समाज मे निहित हैं। बौद्ध धर्म मे हम इसका बहुत अच्छा उदाहरण पाते है।

महायान और हीनयान मे आकाश पाताल का अन्तर है। यद्यपि प्रचीन परम्परा की रक्षा की गई है तथापि तुलना करने से दोनो मे वडा पार्थक्य है। इस परिवर्तन के सामाजिक कारणो का थोडा बहुत पता है।

ऐसा भी होता है कि एक दार्शनिक विचार का उपयोग कोई वर्ग प्रगति के लिये करता है और कोई स्थिर स्वार्थों की रक्षा के लिये, उस दार्शनिक विचार मे चाहे कितनी भी त्रुटिया क्यो न हो यदि उसका प्रगति के लिये उपयोग हो तो अपेक्षिक रूप से यह अच्छा ही है। जब तक विज्ञान की शिक्षा फैलती नही तब तक नये दर्शन का गठित होना सम्भव नही है। उस समय तक या तो प्राचीन दर्शनो की उपेक्षा होगी या उनका व्यवहारिक उपयोग ससार के झझटो से बचने के लिये होगा। दोनो अवस्थायें ठीक नही है। राष्ट्रीयता की मिथ्या भावना से प्रेरित हो अपने प्राचीन दर्शको को विज्ञान सम्मत सिद्ध करने का भी प्रयत्न होगा। थोडे से लोग भले ही पाश्चात्य दर्शन और विज्ञान से प्रभावित हो नवीन दर्शन को स्वीकार कर लें किन्तु जब तक हमारी शिक्षा प्रणाली आमूल परिवर्तित नही होती और उसमे तथा जीवन मे विज्ञान को महत्वपूर्ण स्थान नही मिलता तब तक दर्शन मे हमारी आस्था न होगी। समाज मे यह एक वडी कच्चाई है। इसका एक मात्र इलाज विज्ञान की शिक्षा का प्रसार है और यह काम देश मे उद्योग व्यवसाय के बढने से ही हो सकता है। योरप मे दार्शनिक विचार मे जो प्रगति हुई है उसका इतिहास शृखलाबद्ध ह। हम उन्नति की दिशा को जान सकते हैं किन्तु हमारे देश मे आधुनिक ज्ञान को प्राचीन ज्ञान से बाधा नही है। उनका परस्पर सम्बन्ध भी जानने की चेष्टा नही है। इस विशृखलता के कारण ज्ञान असम्बद्ध रहता है और उसमे पूर्व पर ज्ञान नही होता। इस ज्ञान को जीवन से सम्बद्ध करने की भी चेष्टा नही है। इन त्रुटियो के कारण किसी कार्य मे गम्भीरता नही रहती।

मैंने बौद्ध धर्म पर जो पुस्तक लिखी है उसमे इस प्रकार की कोई आलोचना नही है। एक ग्रन्थ तो फ्रेंच का भाषान्तर मात्र है। दूसरा स्वतन्त्र ग्रन्थ है। इसमे मैंने यत्र तत्र भारत के अन्य दर्शनो से तुलना की है किन्तु अपना कोई विवेचन नही दिया है। ग्रन्थ लिखने का उद्देश्य बौद्ध दर्शनो की जानकारी कराना है। हां, मैंने यह जरूर निश्चय किया है कि स्फुट लेखो मे इनकी स्वतन्त्र आलोचना करूगा। एक लेख लिख भी चुका हू। कुछ और लेखो की

सामग्री भी एकत्र कर ली है। उनके लिखने मे समय न लगेगा। प्राचीन दर्शनो की आलोचना दो दृष्टियो से होती है। एक उनके विज्ञान सम्मत होने की दृष्टि से, दूसरे उनके समाज के लिये उन्नतिशील होने की दृष्टि से। प्रत्येक दर्शन का निरन्तर शोध होता रहना।

मैं बौद्ध दर्शन के अभ्यास मे बुरी तरह फस गया। चीनी यात्रियो का ऋण भी चुकाना था। दूसरे एक बहुत बडी कमी को पूरा करना था। किन्तु इससे अन्य कोई लाभ न हुआ। मैं अन्य विषयो पर कुछ लिख न सका। यह मेरे स्वभाव का दोष है। अन्य विषयो की सामग्री जुटाना मेरे लिये भी कठिन था और जब तक मुझको सतोष न हो कि मैंने विषय की सब प्रामाणिक पुस्तको का अवलोकन कर लिया है तब तक मैं लिखने का साहस नही करता। इसी दोष के कारण मेरे एक दो ग्रन्थ पहले भी अधूरे रह गये और आज तक अधूरे पडे हैं।

जिन पुस्तको का आप ने उल्लेख किया है वह प्राय. मेरी देखी हुई है। डा० भूपेन्द्र नाथ दत्त की पुस्तक मैंने नही देखी है। उसकी समालोचना देखी है। जरूर अच्छी होगी। वह विद्वान है। मेरा उनसे परिचय है। १७-१८ वर्ष हुये मैंने विद्यापीठ मे उनके व्याख्यान कराये थे। वह लगभग एक महीने तक मेरे अतिथि थे। अब तो बहुत वृद्ध हो गये है। तिस पर भी उनका उत्साह कम नही होता। इस पुस्तक को जरूर मगाऊगा। मसानी साहब की पुस्तक देखी है। उसके बहुत से विचारो से मै सहमत नहीं हू किन्तु एक बात उनकी अवश्य विचारणीय है। आजकल इसकी बडी चर्चा भी है। प्रश्न है कि आर्थिक योजना पर आश्रित समाज का लोकतन्त्र से समन्वय कैसे किया जाय। कुछ लोग कहते हैं कि आर्थिक योजना से नौकरशाही की शक्ति बढती है और जनता की स्वतन्त्रता अवश्यमेव जाती रहती है। यह बात ठीक नही है किन्तु दोनो का सामन्जस्य तभी हो सकता है जब हम उचित उपायो का अवलम्बन कर नये समाज को इन दोषो से बचावें, अन्यथा यह दोष अवश्य आ जाते है। किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिये ही सस्थाओ का जन्म होता है और जब तक वह उद्देश्य सफल नही होते तब तक उन सस्थाओ की भी आवश्यकता रहती है। अत सस्था के लोप का प्रश्न ही नही उठता। बदलते हुये समय को देख कर उसकी आवश्यकता और भी बढ जाती है किन्तु मनुष्य को कट्टर मत के दोष से सदा बचना चाहिये।

(Dogma) हमारा शत्रु है। सिद्धान्त ठीक हो किन्तु उनके प्रयोग से सारी कठिनाई हैं। किसका प्रयोग ठीक है किसका नही, इस प्रश्न को लेकर सम्प्रदाय बनने लगते हैं। इससे सकीर्णता आ जाती है। सब धर्मो का यही हाल हुआ। इसलिये सतर्कता की जरूरत है। उदार भाव और मिष्ठ भाषण मनुष्य के ऐसे गुण है जो उसको लोक प्रिय बनाते है। सब मे गुण-दोष रहते हैं। लोग अपने साथियो के दोष को क्षम्य समझते है क्योंकि वह उनके गुणो को भी जानते है और उन परिस्थितियो को भी जानते हैं जिनका उनके साथियो को मुकाबला करना पड़ता है। पुन उनका उन पर स्नेह भी है। किन्तु अपरिचितो के साथ ऐसा व्यवहार नही किया जाता है। यह ठीक नहीं है। समालोचना करने के पूर्व समझने का प्रयत्न होना चाहिये और यदि आलोचना करना है तो उसकी भाषा सयत होनी चाहिये। ऐसी ही आलोचना का प्रभाव होता है। अस्तु,

आपको यदि इतिहास की पुरानी पुस्तको की आवश्यकता हो तो आप पुस्तकों की सूची मेरे लडके के पास भेज दे। वह विद्यापीठ के पुस्तकालय से भिजवाने का प्रबन्ध कर देंगे। आपके पास कुछ रुपया भेजने के लिये लिख दिया है। पुस्तकों को कृपया सभाल कर रखें और जब उनका काम हो जाय तो उन्हे सीधे विद्यापीठ लौटा दें। सबसे मेरा नमस्कार कहियेगा। मैं अच्छा हू।

भवदीय,

नरेन्द्रदेव

पुनश्च —'पायरिया के कारण मुझको अपने सब दात निकलवा देने पडे थे। जून सन् ४२ से ही निकलवा दिये थे। Dental Plate अहमदनगर मे बना था। आवाज मे फर्क हो ही जाता है।

नरेन्द्रदेव

●

[यह पत्र हमे उत्तर प्रदेश विधान मडलीय काग्रेस दल के स्थायी सचिव श्री रमेन्द्र वर्मा से प्राप्त हुआ है। आचार्य जी के ऐसे महत्वपूर्ण पत्र कई लोगो के पास होगे। यदि उन पत्रो को प्रमाणित प्रति आप हमे भिजवा सकें तो अनुग्रह होगा। —सम्पादक]

सत्तिवग्गो की एक कथा

श्रावस्ती मे।

एक ओर अवस्थित उस देवपुत्र ने भगवान के समीप इस गाथा को पढा।

१. शत्तिया

जिस प्रकार एक धार वाले शस्त्र से आहत मनुष्य व्रणचिकित्सक की खोज करता है तथा स्वस्थ होने के लिये अनेक प्रयोग करता है, जिस प्रकार सिर की जलन को शान्त करने के लिये मनुष्य नाना प्रकार के उपचार करता है, उसी प्रकार भिक्षु को चाहिये कि काम रोग के प्रहाण के लिये अप्रमत्त होकर विहार करे। (भगवान बोले) जिस प्रकार एक धार वाले शस्त्र से आहत मनुष्य व्रणचिकित्सक को खोज करता है तथा स्वस्थ होने के लिये अनेक प्रयोग करता है, जिस प्रकार सिर की जलन को शान्त करने के लिये मनुष्य नाना प्रकार के उपचार करता है, उसी प्रकार भिक्षु को चाहिये कि सत्काम दृष्टि के प्रहाण के लिये प्रमादरहित होकर विहार करे।

२. फुसति

कर्म बिना किये विपाक का स्पर्श नही होता। कर्म करने पर ही विपाक का स्पर्श होता है। (कर्म और विपाक की यही धर्मता है) इसलिये जो अप्रदुष्ट पुरुष का उपघात करता है वह कर्मविपाक का भोग करता है।

जो शुद्ध हृदय, विगतरज और अप्रदुष्ट पुरुष का उपघात करता है वह दुर्गति को प्राप्त होता है। मूढ का पापकर्म उसी को लौट आता है जिस प्रकार वायु के प्रतिकूल फेंकी हुई सूक्ष्म धूल अपने ही ऊपर पडती है।

३. जटा

तृष्णा रूपी जटा भीतर-बाहर (अध्यात्म तथा वाह्य आयतनो मे) उत्पन्न होती

रहती है। सब सत्व तृष्णारूपी जटा से अवनद्ध है। हे गौतम। मैं आपसे पूछता हू कि कौन ऐसा पुरुष है जो इस जटा को सुलझाने मे समर्थ है।

जो भिक्षु वीर्य और प्रज्ञा से समन्वागत है वह प्रज्ञावान पुरुष शील मे प्रतिष्ठित हो, समाधि और विपश्यना की भावना करते हुये इस तृष्णा-जाल का विच्छेद करता है। जो क्षीण सब अर्हत राग द्वेष और अविद्या से रहित हैं उनका तृष्णाजाल नष्ट हो गया है।

जहाँ सकल नाम-रूप (नाम = चार अरूपी स्कन्ध) अर्थात् पच स्कन्ध का निरोध रूप = रूप

स्कन्ध होता है, जहाँ प्रतिघ सज्ञा (प्रतिघ सज्ञा मे काम भव गृहीत होता है) और रूप सज्ञा (रूप भव) का निरोध होता है वहा तृष्णारूपी जटा का अत्यन्त विच्छेद होता है।

४ मनो-निवारण

(देवता)

जिससे-जिससे मन को हटाये उससे-उससे दुख को नही प्राप्त होता। वह सबसे यदि मन को हटावे तो सब दुख से मुक्त हो जाता है।

(भगवान्) जो चित्त सयत भाव को प्राप्त है उसका सबसे निवारण नही करना चाहिये (किन्तु उसकी वृद्धि करना चाहिये)।

५ अरहं

देवता—जो भिक्षु अर्हन्त पद को प्राप्त होते है, जिसने चार मार्गों द्वारा समस्त कृत्य सम्पादित किये हैं, जिसे आसवो का क्षय किया है, जिसका यह अन्तिम जन्म है, वह (लोकवत् व्यवहार करता है और) कहता है 'मैं कहता हू' और वह 'मुझे कहते हैं'। (जो भिक्षु अर्हन्त पद को प्राप्त है, जिसने चार मार्गों द्वारा समस्त कृत्य सम्पादित किये हैं, जिसने आसवो का क्षय किया है, जिसका यह अन्तिम जन्म है, वह कहता है कि 'मै कहता हू' और वह मुझे कहते हैं।' वह (स्कन्धादि मे) कुशल है। वह लोक व्यवहार को जान कर केवल व्यवहार का भेद न करने के लिये लोकवत् व्यवहारमात्र करता है।

जो भिक्षु अर्हन्त पद को प्राप्त है, जिसने चार मार्गों द्वारा समस्त कृत्य सम्पादित

किये है, जिसने आसवो का क्षय किया है जिसका यह अन्तिम जन्म है वह क्या मानवश कहता है कि 'मै कहता हू' और वह 'मुझे कहते है।'

भगवान —देवता के इस सन्देह का निराकरण करने के किये भगवान् उत्तर मे निम्नलिखित गाथा कहते है और दिखलाते हैं कि क्षीणास्रव (भिक्षु) ने नवविधि मान का परित्याग किया है।

उसने नवविधि मान का प्रहाण किया है। उसकी ग्रन्थियाँ छिन्न हो चुकी है। उसके सब मान और उसकी सकल ग्रन्थियाँ ध्वस्त हो चुकी है। उस प्रज्ञावान् पुरुष ने तृष्णा, दृष्टि और मान का अतिक्रमण किया है।

वह कहता है कि 'मैं कहता हूँ।' और वह 'मुझे कहते हैं।' वह स्कन्धादि मे कुशल है। वह लोक व्यवहार को जानकर केवल व्यवहार को भेद न करने के लिये लोकवत् व्यवहार मात्र करता है।

६. पज्जोतो

(देवता)

लोक मे कितने प्रकाश हैं जिनसे (यह) लोक प्रकाशित होता है? यह प्रश्न आपसे पूछने आया हूँ। मैं इसे कैसे जानू।

(भगवान्)

लोक मे चार प्रकाश है, पाँचवा नही है। दिन मे सूर्य का प्रकाश होता है रात्रि मे चन्द्रमा का प्रकाश होता है और अग्नि दिन-रात जहा जहा प्रज्वलित होती है वहा वहाँ प्रकाश देती है। प्रकाशो मे सम्बुद्ध श्रेष्ठ है। यह आभा (अर्थात बुद्ध की आभा) अदृश और सर्वश्रेष्ठ है।

●

[यह टिप्पणी आचार्य जी की नोटबुक से उनकी सुपुत्री सरोज देव से हमे प्राप्त हुयी है। उनकी निजी हस्तलेख मे यह कथा नोट की गयी थी। —स०]

शिक्षा और भाषा

आचार्य नरेन्द्रदेव

खेद है कि हमारी नव अर्जित स्वतन्त्रता जनता को अनुप्राणित न कर सकी और उससे राष्ट्र की सर्जनात्मक शक्ति नि सृत नही हुई। परिस्थितियो के सयोग से तथा उन विश्व-शक्तियो की सहायता मे, जो हमारा भाग्य-निर्माण कर रही हैं, हम लोगो को एक नयी हैसियत मिली। किन्तु हमारे अन्दर सामाजिक कर्तव्य और नये दायित्व के प्रति चेतना उत्पन्न नही हुई जो इस स्वतन्त्रता से सम्बन्धित है। हैसियत मे परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे अन्दर कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही हुआ है। हमारे ध्येय मे गम्भीरता नही है और हमारे प्रयास की कोई दिशा नही है। देश की भौतिक और सास्कृतिक उन्नति के लिए एक महान राष्ट्रीय प्रयास होने के बजाय जिसमे लाखो व्यक्ति भाग लें, हम चारो ओर सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नो के प्रति घोर निराशा, निवृत्ति और उदासीनता देखते हैं, और सबसे बुरी बात तो यह है कि राष्ट्र की सम्पदा मे कोई अभिवृद्धि होने के बजाय जनता का नैतिक स्तर निरन्तर गिरता गया है। जो देश सास्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र के मानवोपरि प्रयास द्वारा ही दलदल से बाहर निकल सकता है। हम लोग दासो की भाँति हमेशा परित्राणकर्ता की ओर दृष्टि लगाये रहते हैं और युगो से अमूल्य निधियो को उपलब्ध करने के लिए सुगम और सुलभ उपाय ढूंढने के अभ्यस्त हो गये हैं। जब पुराना प्रकाश धुधला हो जाता था अथवा बुझ जाता था और देश मे चारो ओर अन्धकार छा जाता था तब हम लोग ऐसा मार्ग ढूंढने की कोशिश करते थे जिससे करोडो व्यक्तियो को बिना अधिक प्रयास के ही मोक्ष और स्वर्गीय आनन्द का लाभ हो सके।

---

* अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन मे अध्यक्ष पद से दिया गया अभिभाषण।

सामान्यजन को ऊपर उठाने के बजाय हम लोगो ने क्रम से ऐसे महात्माओ की सृष्टि की जिनका एकमात्र कार्य समाज मे जनता के मोक्ष का मार्ग ढूँढना था। ज्ञान और क्रिया के दर्शनो को पीछे ढकेल दिया गया, जीवन की सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त करने के लिये केवल भक्ति और पूर्ण आत्मसमर्पण ही पर्याप्त था। हम लोग मस्ती औषधि के फेर मे ही पडे रहे और सम्पूर्ण राष्ट्र पगु और कम्पवायु से ग्रसित हो गया। ऐसे वातावरण मे कोई महान बौद्धिक प्रयास सम्भव नही था और सामारिक वस्तुओ मे ही अधिकाधिक दिलचस्पी होती गयी। सारे देश मे जडता आ गयी, जीवन मृतप्राय हो गया और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पतन के गर्त मे पहुच गया। अतएव इसमे विशेष आश्चर्य नही कि राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति से हमारे अन्दर नयी शक्ति नि सृत न हो सकी। यहाँ तक कि गाधी जी का सर्वोत्कृष्ट आत्मोत्सर्ग भी उस जडता को दूर न कर सका। ऐसे महात्मा का नेतृत्व दुर्लभ होता है, किन्तु जैसी हमारी परम्परा रही है, हम लोगो ने उनके देहावसान के उपरान्त उन्हे सन्तो की कोटि मे बैठा दिया और अपने महापुरुषो मे सम्मानित स्थान देकर सन्तुष्ट हो गये। किन्तु यह हमारे लिये अत्यन्त लज्जा का विषय है कि हम लोग उनके उत्तम उपदेशो को भूल गये और यहाँ तक कि उनका अपरिमित आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति-भण्डार भी हमारे नैतिक अध पतन को रोक न सका। इस समय सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन भ्रष्टाचार, पक्षपात तथा अनुशासनहीनता से रग गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अधिकार लिप्सा छा गयी है। यहाँ तक कि विद्या-केन्द्र भी इस भ्रष्टाचार से बच नही सके हैं। हम लोगो मे सकीर्णता, तुच्छता और स्वार्थपरता आ गयी है, समुदाय की अपेक्षा स्वार्थचिन्तन ही अधिक होता है। हमारी उत्तम भावनाएँ विलुप्त हो गयी हैं, सामाजिक विवेक नष्ट हो गया है और सेवा तथा त्याग की भावना का हमारे अन्दर लोप हो गया है। हमारी स्थिति सचमुच निराशाजनक हो गयी है। अब और आत्म-सन्तोष घातक सिद्ध होगा। सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने चारो ओर के खतरो के प्रति जागरूक होना पडेगा। इस समय सर्वोत्कृष्ट बुद्धिमत्ता और साहस की आवश्यकता है। भारतीय जनता की वर्तमान आवश्यकताओ और आकाक्षाओ की तृप्ति करने के लिए आधारभूत जीवन-दर्शन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। राष्ट्रीय जीवन को नवीन ढाँचे मे पुन शिक्षित करना तथा ढालना पडेगा। भारत की वर्तमान दशा का

शिक्षा और भाषा

आचार्य नरेन्द्रदेव

खेद है कि हमारी नव अर्जित स्वतन्त्रता जनता को अनुप्राणित न कर सकी और उससे राष्ट्र की सर्जनात्मक शक्ति नि सृत नही हुई। परिस्थितियो के सयोग से तथा उन विश्व-शक्तियो की सहायता से, जो हमारा भाग्य-निर्माण कर रही हैं, हम लोगो को एक नयी हैसियत मिली। किन्तु हमारे अन्दर सामाजिक कर्तव्य और नये दायित्व के प्रति चेतना उत्पन्न नही हुई जो इस स्वतन्त्रता से सम्बन्धित हैं। हैसियत मे परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे अन्दर कोई महत्वपूर्ण परिवर्तन नही हुआ है। हमारे ध्येय मे गम्भीरता नही है और हमारे प्रयास की कोई दिशा नही है। देश की भौतिक और सास्कृतिक उन्नति के लिए एक महान राष्ट्रीय प्रयास होने के बजाय जिसमे लाखो व्यक्ति भाग ले, हम चारो ओर सामाजिक और राजनीतिक प्रश्नो के प्रति घोर निराशा, निवृत्ति और उदासीनता देखते हैं, और सबसे बुरी बात तो यह है कि राष्ट्र की सम्पदा मे कोई अभिवृद्धि होने के बजाय जनता का नैतिक स्तर निरन्तर गिरता गया है। जो देश सास्कृतिक और आर्थिक दृष्टि से पिछडा हुआ है, वह सम्पूर्ण राष्ट्र के मानवोपरि प्रयास द्वारा ही दलदल से बाहर निकल सकता है। हम लोग दासो की भाँति हमेशा परित्राणकर्ता की ओर दृष्टि लगाये रहते हैं और युगो से अमूल्य निधियो को उपलब्ध करने के लिए सुगम और सुलभ उपाय ढूंढने के अभ्यस्त हो गये है। जब पुराना प्रकाश धुधला हो जाता था अथवा बुझ जाता था और देश मे चारो ओर अन्धकार छा जाता था तब हम लोग ऐसा मार्ग ढूंढने की कोशिश करते थे जिससे करोडो व्यक्तियो को बिना अधिक प्रयास के ही मोक्ष और स्वर्गीय आनन्द का लाभ हो सके।

---

* अखिल भारतीय शिक्षा सम्मेलन के बम्बई अधिवेशन मे अध्यक्ष पद से दिया गया अभिभाषण।

सामान्यजन को ऊपर उठाने के बजाय हम लोगो ने क्रम से ऐसे महात्माओ की सृष्टि की जिनका एकमात्र कार्य समाज मे जनता के मोक्ष का मार्ग ढूंढना था। ज्ञान और क्रिया के दर्शनो को पीछे ढकेल दिया गया, जीवन की सर्वोत्कृष्टता को प्राप्त करने के लिये केवल भक्ति और पूर्ण आत्मसमर्पण ही पर्याप्त था। हम लोग सस्ती औपधि के फेर मे ही पडे रहे और सम्पूर्ण राष्ट्र पगु और कम्पवायु मे ग्रसित हो गया। ऐसे वातावरण मे कोई महान बौद्धिक प्रयास सम्भव नही था और सासारिक वस्तुओ मे ही अधिकाधिक दिलचस्पी होती गयी। सारे देश मे जडता आ गयी, जीवन मृतप्राय हो गया और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पतन के गर्त मे पहुच गया। अतएव इसमे विशेप आश्चर्य नही कि राजनीतिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति से हमारे अन्दर नयी शक्ति नि सृत न हो सकी। यहाँ तक कि गाधी जी का सर्वोत्कृष्ट आत्मोत्सर्ग भी उस जडता को दूर न कर सका। ऐसे महात्मा का नेतृत्व दुर्लभ होना है, किन्तु जैसी हमारी परम्परा रही है, हम लोगो ने उनके देहावसान के उपरान्त उन्हे सन्तो की कोटि मे बैठा दिया और अपने महापुरुषो मे सम्मानित स्थान देकर सन्तुष्ट हो गये। किन्तु यह हमारे लिये अत्यन्त लज्जा का विषय है कि हम लोग उनके उत्तम उपदेशो को भूल गये और यहाँ तक कि उनका अपरिमित आध्यात्मिक और नैतिक शक्ति-भण्डार भी हमारे नैतिक अध पतन को रोक न सका। इस समय सम्पूर्ण राष्ट्रीय जीवन भ्रष्टाचार, पक्षपात तथा अनुशासनहीनता से रग गया है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे अधिकार लिप्सा छा गयी है। यहाँ तक कि विद्या-केन्द्र भी इस भ्रष्टाचार से बच नही सके है। हम लोगो मे सकीर्णता, तुच्छता और स्वार्थपरता आ गयी है, समुदाय की अपेक्षा स्वार्थचिन्तन ही अधिक होता है। हमारी उत्तम भावनाएँ विलुप्त हो गयी हैं, सामाजिक विवेक नष्ट हो गया है और सेवा तथा त्याग की भावना का हमारे अन्दर लोप हो गया है। हमारी स्थिति सचमुच निराशाजनक हो गयी है। अब और आत्म-सन्तोष घातक सिद्ध होगा। सम्पूर्ण राष्ट्र को अपने चारो ओर के खतरो के प्रति जागरूक होना पडेगा। इस समय सर्वोत्कृष्ट बुद्धिमत्ता और साहस की आवश्यकता है। भारतीय जनता की वर्तमान आवश्यकताओ और आकाक्षाओ की तृप्ति करने के लिए आधारभूत जीवन-दर्शन मे क्रान्तिकारी परिवर्तन की आवश्यकता है। राष्ट्रीय जीवन को नवीन ढाँचे मे पुन शिक्षित करना तथा ढालना पडेगा। भारत की वर्तमान दशा का

साराश यह है कि हम लोग जीवन का ध्येय ही खो बैठे हैं। फलत हम अंधकार मे टटोल रहे है और हमारा प्रयास असम्बद्ध और निरुद्देश्य हो रहा है। अगर हम दृढतापूर्वक अपने समक्ष ऐसे स्पष्ट और सुनिश्चित ध्येय को जिसे हम प्राप्त करना चाहते है, रखें तो हमारी वर्तमान अव्यवस्था दूर हो सकती है। इसी प्रसग मे हमे शिक्षा के महत्व को समझना चाहिए। विभिन्न कार्य-क्षेत्रों में नया नेतृत्व शिक्षण-सस्थाएँ ही प्रदान कर सकती हैं। विश्वविद्यालय विचार-केन्द्र बन सकते है और इस प्रकार राष्ट्र की एक महत्वपूर्ण आवश्यकता पूरी कर सकते हैं। अन्यत्र सभी देशो मे राष्ट्रीय जीवन मे शिक्षा के महत्व का अनुभव किया जा रहा है और यह समझा जाता है कि शिक्षा को किसी भाँति मरने या अशक्त होने नही दिया जा सकता। यहाँ तक कि जब ब्रिटेन युद्धलिप्त था तब भी वहाँ शिक्षा-प्रसार के लिये राजकोष द्वारा उदार अनुदान दिया गया था। किन्तु दुर्भाग्यवश हमारे देश मे जनता और राज्य को राष्ट्रीय जीवन मे उच्च शिक्षा के महत्व का कुछ भी ज्ञान नही है। यहा तक कि हमारे विश्वविद्यालयो के अन्तर्गत भी स्वतन्त्रता की अनुभूति नही उत्पन्न हो सकी है और वे अब भी पुरानी लकीर को इस भाति पीटे जा रहे हैं मानों राष्ट्र में कोई नवीन घटना ही नही घटी है। जब कभी देश मे आर्थिक सकट खडा होता है तो शिक्षा उसका पहला शिकार होती है। भारत सरकार मुश्किल से अपनी आय का आधा प्रतिशत शिक्षा पर व्यय करती है। यह केवल तीन विश्वविद्यालयो को आर्थिक सहायता प्रदान करने के लिए उत्तरदायी है और सभी स्तरो की शिक्षा का शेष सारा भार इसने राज्य सरकारों पर डाल दिया है। राज्य सरकारो के प्रति न्यायसगत बात तो यह होगी कि भारत सरकार स्वय कम से कम पोस्ट ग्रेजुएट शिक्षा और अनुसधान का भार अपने ऊपर ले ले और अपनी आय का पर्याप्त भाग शिक्षा पर व्यय करे।

अगर हम विशुद्ध उपयोगिता की दृष्टि से भी शिक्षा पर विचार करें और सामाजिक और सास्कृतिक शक्ति के रूप मे इसकी महत्ता को अलग कर दें तो भी हमे यह अवश्य स्वीकार करना चाहिए कि शिक्षा, विशेषकर विश्वविद्यालयो की शिक्षा की इतनी उपेक्षा नही होनी चाहिए। समाज कल्याण-राज्य स्थापित करने का दावा करती है, किन्तु इस ध्येय को प्राप्त करने के लिए देश की सामाजिक सेवाओ का निरन्तर विस्तार आवश्यक है। इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये सरकार को काफी सख्या मे अध्यापको, डाक्टरो, इजीनियरो,

यन्त्रचालको तथा छोटे-बडे कार्यों के लिये अन्य सुशिक्षित व्यक्तियो की सेवाओ की आवश्यकता पडेगी। इसका यह अर्थ होता है कि विश्वविद्यालयो की शिक्षा का, वैज्ञानिक और यान्त्रिक शिक्षा की सुविधाओ का निरन्तर प्रसार और वैज्ञानिक अनुसधान मे प्रगति होनी चाहिए। जन-हित की हमारी सभी योजनाएँ तथा निर्माण-कार्य तब तक सफल नही हो सकते जब तक कि राष्ट्रीय जीवन के विभिन्न क्षेत्रो मे सुशिक्षित और कुशल व्यक्तियो का एक बडा दल तैयार नही हो जाता है। राष्ट्र की इस आवश्यकता की पूर्ति विश्वविद्यालय तथा टेकनालॉजिकल इन्स्टीट्यूट ही कर सकते है।

किन्तु शिक्षा का एक दूसरा पक्ष भी है जो उतना स्पष्ट तो नही, किन्तु उतना ही महत्वपूर्ण है। आधुनिक युग मे शिक्षा का सामाजिक प्रयोजन होना चाहिए। शिक्षा के सम्बन्ध मे शास्त्रवादी और परम्परावादी विचार के बदले अधिक व्यापक और गत्यात्मक दृष्टिकोण को स्थान मिलना चाहिए। हम लोग एक ऐसे युग मे रहते है जब सामाजिक परिवर्तन बडी तीव्र गति से हो रहा है। समाज का मूलाधार ही परिवर्तित हो रहा है और प्राचीन मौलिक धारणाएँ काफी विवादास्पद हो गयी हैं। पर दोनो पक्ष अपनी आस्था पर दृढ हैं और विभिन्न दृष्टिकोणो मे सामजस्य स्थापित करने की आशा नही की जा सकती। इस प्रकार हमारे जीवन और व्यवहार के नियामक प्राचीन मौलिक सिद्धान्तो मे कोई ऐकमत्य नही है। ज्ञान के क्षितिज का विस्तार हो रहा है, और इस दृष्टि से समय-समय पर हमारे मानस की पुनर्व्यवस्था आवश्यक हो गयी है। शिक्षा का उद्देश्य देश के नवयुवको को भावी जीवन के लिये तैयार करना है, किन्तु जीवन की परिस्थिति मे निरन्तर परिवर्तन होता रहता है, अतएव नवयुवको की शिक्षा भी स्थिर जीवन दर्शन पर आधृत नही हो सकती है। परिवर्तनशील जगत की आवश्यकता पूरी करने के लिये शिक्षा को गत्यात्मक बनाना पडेगा, उसमे आधुनिक समाज की आवश्यकताओ तथा आकाक्षाओ पर शेष विश्व की दृष्टि से विचार करना पडेगा, विद्यार्थियो मे जीवन के उन मूल्यो की प्रतिष्ठा और प्रचार करना पडेगा जो आधुनिक विश्व की प्रगति के लिये आवश्यक है। वर्तमान जीवन पर विज्ञान की छाप को स्वीकार करना पडेगा और यह मानना पडेगा कि विज्ञान और यन्त्रकला हमारी अनेक समस्याओ को हल करने मे काफी सहायक सिद्ध होगे। किन्तु साथ ही हमे यह भी ध्यान मे रखना होगा कि विज्ञान का तुच्छ स्वार्थों की सिद्धि मे दुरुप-

योग न किया जाय, बल्कि उसे सामाजिक हित-कार्य मे नियोजित किया जाय। यही विज्ञान का सच्चा धर्म है, किन्तु दुर्भाग्यवश सभी वैज्ञानिको मे सामाजिक दायित्व के प्रति इतनी उच्च भावना नही है और वे इस बात का कुछ भी विचार न करके कि उनके आविष्कारो का किस प्रकार उपयोग किया जायगा, अपनी सेवा अधिकारूढ व्यक्तियो को अर्पित करने के लिये उद्यत रहते है। ज्ञान ही शक्ति है, किन्तु अगर इसका शान्ति और सामाजिक कल्याण के लिये उपयोग न कर युद्ध और विनाश के लिये किया जाता है तो यह खतरनाक हो सकता है। आज विज्ञान का लाभदायक कार्यों के साथ-साथ परस्पर विनाश के शस्त्रास्त्र बनाने मे भी उपयोग किया जा रहा है। यहा तक कि सामाजिक विज्ञानों का भी जो अभी हाल मे विकसित हुये हैं, जनता के विचारो और व्यवहार का मनोवैज्ञानिक तरीके से दुरुपयोग किया जा रहा है। यह सब इसीलिये हो रहा है क्योकि जनता की किसी प्रकार के सामाजिक और नैतिक मूल्यो मे आस्था नही है और न उसका कोई मूल्याकन-दण्ड ही रह गया है। अधिकार-लिप्सा ने हमारी विवेक शक्ति पर पर्दा डाल दिया है, हम साधनो की शुद्धता का विचार नही करते और स्वार्थ-सिद्धि के लिये किसी भी तरीके को अपना सकते हैं, चाहे वह कितना भी निम्न और अयोग्य क्यो न हो। सारा जनसमूह ही अनैतिक हो रहा है क्योकि धर्म का प्रभुत्व तेजी से क्षीण हो रहा है और पुरानी परम्पराए और विश्वास किसी नवीन की सुदृढ स्थापना से पहले ही धराशायी हो गये है। जीवन के प्रति यह नकारात्मक दृष्टिकोण निश्चित रूप से हानिकर है और विश्व को एक भारी विपत्ति का सामना करना पडेगा, अगर समय रहते इसमे सशोधन नही हुआ और उन सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्यो को प्रधानता नही मिली जिनसे ही विश्व की रक्षा हो सकती है। विज्ञानवेत्ता और राजनीतिज्ञ को समाज के प्रति अपने दायित्व को अवश्य समझना चाहिए और उन नैतिक मूल्यो के प्रकाश मे कार्य करना चाहिए जिनसे ही समाज व्यवस्था चल सकती है। ऐसे अनेक सामाजिक मूल्य है जिनका स्थायी महत्व है और मानव-इतिहास मे उनकी यथार्थता और उपयोगिता बारम्बार सिद्ध हो चुकी है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी मूल्य होते हैं जो जनता की नयी आकाक्षाओ और आवश्यकताओ से समय-समय पर उद्भूत होते हैं। वे युग-धर्म होते है। राष्ट्रीय प्रगति की दृष्टि से उनका भी समान महत्व है। एक परम्परापूजक व्यक्ति का इन नवीन मूल्यो मे पूर्ण आस्था

नही हो सकती है क्योंकि उसकी विचार-पद्धति जड़ हो गई है और वह वर्तमान की अपेक्षा भूत में ही अधिक रहने की कोशिश करता है। परिवर्तित परिस्थितियों के साथ तभी सामञ्जस्य स्थापित हो सकता है जबकि हमारा दृष्टिकोण गतिशील हो और हमारे अन्तर्गत अपने चारो ओर होने वाले परिवर्तनों की सूक्ष्म अनुभूति और चेतना होनी चाहिए। कोई भी राष्ट्र, विशेषकर हमारा देश जिसकी दीर्घकालिक परम्परा रही है, सर्वथा नये आधार पर आगे नहीं बढ़ता है। भूत की उपेक्षा नही की जा सकती है, और इसलिये हमारे लिए एकमात्र बुद्धिमत्ता पूर्ण मार्ग यही है कि हम भूत की विवेकपूर्वक परीक्षा करें और आधुनिक अनुभवों के प्रकाश में उसका उचित मूल्यांकन करें। अगर हम ऐसा नहीं करते है तो इसके पतनोन्मुख तत्वों का भी हमारे आचरण पर अज्ञात रूप से प्रभाव पड़ेगा और वे हमारे कार्य के प्रेरक बन जायेंगे। हमारे लिये उच्च कोटि की वास्तविकता और युक्तिपूर्ण विचार की आवश्यकता है। भूत के सम्बन्ध मे एक सन्तुलित और आवेशरहित दृष्टि होनी चाहिए और इसमे उन सबका योगदान होना चाहिए जो आधुनिक ज्ञान हमे राष्ट्रीय प्रगति के लिये दे सकता है। हमे यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अब हम बिलकुल पृथक भी नही रह सकते है। हमारा जीवन दूसरे राष्ट्रो के जीवन के साथ अनेक प्रकार से बंधा हुआ है और हम पारस्परिक सहयोग से ही अपनी समस्याएँ हल कर सकते है। आधुनिक विज्ञान ने सम्पूर्ण विश्व मे एकता ला दिया है, और अगर हम अन्तर्राष्ट्रीय मानस का विकास नही करते है तथा विश्वव्यापी दृष्टि से अपनी समस्याओ को देखने का अभ्यास नही करते हैं तो अन्य राष्ट्रो के साथ हमारा बार-बार संघर्ष होता रहेगा।

जहाँ तक स्वदेश का सम्बन्ध है, हमारे सामने बहुत बड़ा काम है। देश मे अनेक समस्याएँ है और जो कठिनाइयों से भरी हुई है। जनता अज्ञानता और गरीबी के गर्त मे पडी हुई है। यद्यपि भारत एक कृषि प्रधान देश है, किन्तु बढ़ती हुई जनसंख्या के हिसाब से खाद्य उत्पादन बहुत कम है। हम जनता की आधारभूत आवश्यकताएं भी पूरी करने मे असमर्थ है। मृत्यु संख्या बेहिसाब है। जनता घोर गन्दगी मे रहती है और जीवन की औसत आयु २६ वर्ष है। जनता या तो उदासीन है अथवा उद्विग्न मुद्रा मे। उसमे अनुशासन नही है और वे सहकारिता का महत्व नही समझते है। हमारा सम्पूर्ण सामाजिक

ढाचा जाति-भेद पर आधृत है और हम जनतान्त्रिक जीवन-विधि से बिलकुल अभ्यस्त नही है। वर्तमान आर्थिक और सामाजिक भेदभाव से सबको आत्मोन्नति के लिये समान अवसर नही मिलता है। जनतान्त्रिक भावना कमजोर है और जनतान्त्रिक परम्परा का बिलकुल अभाव रहा है। समाज मे ऐसी गतिशीलता बहुत कम है जिसमे उन लोगो को जीवन मे उत्थान की समुचित आशा हो सके जो पददलित हैं। लोग अपने आपस के मैत्री व्यवहार मे जाति, ध्येय और प्रान्त के भेदभाव से ग्रसित है। अगर शिक्षा को कुशलतापूर्वक अपना कार्य सम्पन्न करना है तो इसे नये आधार पर एक नये समाज का निर्माण करने मे तथा अन्य राष्ट्रो के साथ प्रेम और सद्भाव के साथ रहने मे सहायक सिद्ध होना चाहिए। केवल कुशल व्यक्ति तैयार करना ही पर्याप्त नही है, बल्कि यह भी आवश्यक है कि हम भले नागरिक उत्पन्न करें जिनमे सुदृढ नागरिक भाव और उच्च सामाजिक आदर्श हो, जो अन्तरराष्ट्रीय शाति और बुद्धि मे विश्वास रखते हो और जो जनतान्त्रिक जीवन-विधि मे दृढ आस्था रखते हो। वर्तमान समस्याओ के गम्भीर अध्ययन और समाज की नवीन प्रवृत्तियो को समझने की जागरूकता के बिना कोरा पाण्डित्य-ज्ञान निरर्थक ही नही, बदतर भी है।

इसलिये हमारी शिक्षा-पद्धति मे पूर्ण परिवर्तन की आवश्यकता है और इसका ध्येय पुनर्निर्धारित करना पड़ेगा। इसमे तनिक सन्देह नही कि किसी शिक्षा-पद्धति की सफलता अन्ततोगत्वा अध्यापक पर निर्भर करती है। विदेशी शासन के अन्तर्गत उसे नाममात्र की सैद्धान्तिक (academic) स्वतन्त्रता थी और वह समाज से पृथक था। विद्यालय और समाज के बीच इस पृथक्करण के कारण ही शिक्षा मे लोगो की दिलचस्पी कम होती गयी। एक अध्यापक को पहले समाज मे अपनी उपयोगिता सिद्ध करनी पड़ेगी तब वह समाज मे मान्यता प्राप्त कर सकता है। उसका कार्यक्षेत्र केवल विद्यालय मे ही सीमित नही रहना चाहिए, बल्कि राष्ट्रीय जीवन के सभी क्षेत्रो मे इसका प्रसार होना चाहिए। उदाहरणार्थ, उसे कोर्स के अतिरिक्त कार्यो मे लगना चाहिए और सामान्य जन को शिक्षित करने का कार्य अपने हाथ मे लेना चाहिये। वह विद्या और चरित्र वाला व्यक्ति होना चाहिए और उसमे व्यापक मानव-सहानुभूति होनी चाहिए। विचार और आचार मे भेद नही होना चाहिए।

उसे विद्यार्थी के व्यक्तित्व का समादर करना चाहिए, उसके अन्तरतम मे प्रवेश करने की कोशिश करनी चाहिए तथा उसकी आवश्यकताएँ और कठिनाइया समझनी चाहिए। विद्यार्थियो के मानस का निर्माण करना, उनके चरित्र का विकास करना तथा उनमे जनतान्त्रिक भाव भरना अध्यापक का कर्तव्य है। उनमे स्वतन्त्रतापूर्वक विचार-विनिमय होना चाहिए और अध्यापक को विद्यार्थियो पर अपने विचार लादने की कोशिश नही करनी चाहिए, बल्कि विचाराधीन प्रश्न पर विभिन्न दृष्टिकोण उनके सामने रखना चाहिए। ऊपर से अनुशासन नही लादना चाहिए, जहा तक सम्भव हो, आत्म-सयम की शक्ति को जो मानव-प्रकृति मे सन्निहित होती है और जिसमे आत्मानुशासन होता है, प्रोत्साहित करना चाहिए। अध्यापक विद्यार्थियो के लिये आदर्श होना चाहिए जिससे वे सम्भवत अनुकरण करने की कोशिश करें। विद्यार्थियो का जीवन निर्माण करने मे अध्यापको का बहुत बडा हाथ रहता है और हममे से जिन लोगो को वास्तव मे अच्छे अध्यापको के चरण के पास बैठने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है, वे अब भी उनको कृतज्ञतापूर्वक स्मरण करते हैं। जो अध्यापक केवल ज्ञान-वाहन करता है, किन्तु विद्यार्थियो के विचार और चरित्र का निर्माण नही करता है, वह एक योग्य अध्यापक नही है। सच्चा अध्यापक अपने विद्यार्थियो के सम्मान और प्रेम का भाजन होता है, और उसके लिए अनुशासन पालन कराना अत्यन्त सुलभ होता है। यह कहना गलत है कि इस पीढी के विद्यार्थी ऐसे नही रहे। किन्तु यह खेदजनक बात है कि वर्तमान सामूहिक उत्पादन-क्रम मे अनेक अध्यापको का भी वह स्तर नही रह गया है। राजनीतिज्ञ और अध्यापक, दोनो दुर्भाग्यवश युग के अनुरूप नही बन सके है। उनमे अपने कर्तव्य और दायित्व की भावना का दुखद अभाव दिखायी देता है। यह भी सत्य है कि अध्यापक के लिए समाज को अपना सर्वोत्तम अर्पित करने के लिये कोई प्रोत्साहन नही है। अनेक व्यक्ति इस पेशे के लिये अनुपयुक्त है, आम तौर से अध्यापको को प्रेरणा रहित और हतोत्साही परिस्थिति मे काम करना पडता है, जबकि कुछ प्रतिशत लोग जो अपने पेशे के प्रति ईमानदार हैं और अपनी कठिनाइयो की कुछ परवाह नही करते है, वे आत्मार्पण का जीवन व्यतीत करते है। आम तौर से एक अध्यापक जीवन की सभी सुविधाओ से वचित रहता है। उसमे सुरक्षा का भाव नही रहता है, उसका वेतन अपर्याप्त होता है, उसे अपने कार्यों का उचित प्रतिफल नही मिलता है

और उसे साधारणत समाज में सम्मानजनक स्थान नही मिलता है। काम की दशा भी हमेशा सन्तोषप्रद नही होती है। उसकी सस्था मे कोई सुसज्जित पुस्तकालय नही होता है, और साधन तथा आवास की कमी होती है। क्लास बडा होने के कारण उसे अपने सब विद्यार्थियो के साथ व्यक्तिगत सम्पर्क स्थापित करना भी कठिन होता है। काम के घण्टे इतने लम्बे हो सकते है कि उसे अध्ययन और अनुशासन के लिए सुविधा और आवश्यक अवकाश ही न मिले। अगर औसत श्रेणी के अध्यापक को अपना कार्य भलीभाति सम्पादित करना है और जीवन मे अपने पेशे के प्रति ईमानदार होना है तो इन सबका उपचार आवश्यक है।

मैंने ऊपर कहा है कि अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह विद्यार्थियो के जीवन मे जीवन के उच्च सामाजिक आदर्शों को प्रतिष्ठित करे। एक अध्यापक तभी उपयोगी हो सकता है जबकि उसके अन्तर्गत बौद्धिक ईमानदारी हो और यह तभी सम्भव है जबकि उसे वैचारिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो। यह स्वतन्त्रता ही अध्यापक की अमूल्य निधि होती है और किसी भी दशा मे इसका परित्याग नही हो सकता है। उसे सभी विषयो पर सैद्धान्तिक तरीके से अपने विचार व्यक्त करने की अबाध स्वतन्त्रता होनी चाहिए। एक सच्चा अध्यापक अपने युग के विवादास्पद प्रश्नो के प्रति उदासीन नही रह सकता है। उदासीनता का भाव अथवा उससे भी बुरी बात, अधिकारियो के भय से अपने विचारो को छिपाने की इच्छा उसकी मर्यादा के विरुद्ध है। किन्तु यह स्मरण रहे कि चाहे उसका विचार कुछ भी हो, उसे एक प्रचारक अथवा मचवक्ता बनने की अनुमति नही दी जानी चाहिए।

उसे किसी प्रश्न के सभी पहलुओ पर शान्त तरीके से विचार-विमर्श करना चाहिए और उसके अन्दर किसी प्रश्न के सभी पहलुओ को अपने विद्यार्थियो के समक्ष रखने का विवेक होना चाहिए। इस सम्बन्ध मे यह प्रश्न उठता है कि क्या अध्यापक को राजनीति मे भाग लेना चाहिए या नही। विश्वविद्यालयो, सहायक स्कूलो तथा कालेजो के अध्यापक इस समय भी राजनीति मे भाग लेने के लिये स्वतन्त्र है, किन्तु सरकारी कर्मचारियो के सम्बन्ध मे यह बात सच नही है। कोई कारण नही कि उनको भी ऐसी स्वतन्त्रता नही दी जाय। मेरा यह विचार है कि 'सरकारी कर्मचारियो के आचरण सम्बन्धी नियम' इस

मामले मे लागू नही होना चाहिए। इस संसार मे कोई ऐसा कारण नही कि एक सरकारी स्कूल के अध्यापक और सहायता प्राप्त स्कूल के अध्यापक मे इतना भेद हो। ऐसे नियम की क्या आवश्यकता है कि एक अध्यापक सरकार की पूर्व स्वीकृति के बिना प्रेस के लिये कुछ नही लिख सकता है।

किसी अध्यापक को अपने देश के सामाजिक और राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने से नही रोकना चाहिए। मैं जानता हू कि मैं यहां जिस सिद्धान्त का प्रतिपादन कर रहा हू, उसमे खतरे भी सन्निहित है। कुछ अध्यापक इस सुविधा का दुरुपयोग करेंगे और सैद्धान्तिक विचार-विमर्श के मान्य स्तर की रक्षा नही कर सकते हैं। वे अपने विद्यार्थियो को सिद्धान्त विशेष की दीक्षा देने लगेंगे। किन्तु स्वतन्त्रता के दुरुपयोग की आशका से उसका अपहरण नही होना चाहिये। उल्लघन होने पर उसकी पुनरावृत्ति रोकने के लिये उचित कारंवाई की जा सकती है। किन्तु ऐसे उल्लघन के बहाने वैचारिक स्वतन्त्रता मे ही कमी नही होनी चाहिए। और यह स्वतन्त्रता केवल विश्वविद्यालय के अध्यापको को ही नही मिलनी चाहिए, बल्कि यह निम्नतम श्रेणी के अध्यापको तक को भी प्राप्त होनी चाहिए।

यह भी ध्यान रखना चाहिए कि अध्यापक और उसके प्रधान के बीच सम्बन्ध सदैव मैत्रीपूर्ण नही रहता है। यह अत्यावश्यक है कि उनके बीच सद्भाव रहे और अध्यापको के सुझाव और आलोचना को बुरा नही मानना चाहिए, बल्कि विभागीय अध्यक्षो द्वारा उसका स्वागत करना चाहिए। सस्था के सामान्य हित की दृष्टि से उनमे सहकारिता की इच्छा होनी चाहिये, जिसके अभाव मे कोई सच्चा सहयोग सम्भव नही है, केवल अधिकारियो का यन्त्रवत् आज्ञापालन होगा।

सहायता प्राप्त और प्राइवेट सस्थाओं मे अध्यापको की अवस्था और भी खराब है। उन्हे काम की सुरक्षा बहुत कम है और कभी-कभी तो जातीयता का विचार कर नियुक्तियां की जाती है। वेतन-दर न्यूनतर होती हैं और काम की शर्तें असन्तोषजनक। यही कारण है कि उनके अध्यापक यह माग करते हैं कि उनकी सस्थाएँ सरकार अपने हाथ मे ले ले। और जब अध्यापक अपना सगठन बनाते है तो उन पर ट्रेड यूनियन बनाने का आरोप लगाया जाता है। वर्तमान प्रतिस्पर्धात्मक समाज मे अध्यापको के समक्ष अपने अधि-

कारो की रक्षा और विस्तार के लिये सगठित होने के अतिरिक्त और कोई चारा नही है। किन्तु अपने अधिकारो की रक्षा तथा स्वार्थ-साधन के लिए सामूहिक मोलभाव के साथ शिक्षा मे उन्नति करने के लिये एक सहकारी प्रयास भी होना चाहिए। ऐसे सगठनो को वेतन, कार्यविधि इत्यादि मामलों को देखना चाहिए और उनकी शिकायतो को हल करने का भी प्रभावकर साधन बनाना चाहिए। किन्तु उन्हें शिक्षा की समस्याओ पर भी विचार-विमर्श करना चाहिए और अध्यापन-वृत्ति को ऊँचा उठाने की कोशिश करनी चाहिए। उन्हे अध्यापको के आचरण के लिए एक मान-दण्ड तैयार करना चाहिये जिसका व्यवहार मे पालन किया जाय। सगठन इस बात को ध्यान में रखें कि किसी अध्यापक के दुराचार से उस पेशे की प्रतिष्ठा मे धक्का नही लगना चाहिये और सभी श्रेणी के अध्यापको मे भ्रातृत्व और एकता का भाव उत्पन्न हो। माँ-बाप और अध्यापको मे सम्पर्क स्थापित कराने के लिये भी सगठन बनने चाहिए। बच्चे की उन्नति की दृष्टि से अभिभावको का सहयोग प्राप्त करना चाहिए और जब मा-बाप और विद्यालय, दोनो बच्चे की भलाई मे समान रूप से योगदान करेंगे तभी विशेष प्रगति हो सकती है। सबसे मुख्य बात यह है कि अगर अध्यापक विभिन्न तरीको से अपने को समाज मे उपयोगी बनाते है और समाज मे अपने दायित्व के प्रति सचेत है तो वे अपनी खोयी हुई प्रतिष्ठा पुन प्राप्त करेंगे और समाज मे उनकी मर्यादा बढ़ेगी।

यह एक आम शिकायत है कि विश्वविद्यालयों की शिक्षा के स्तर का ह्रास हो रहा है, विद्यार्थियो मे अपने सामान्य सस्कृति की कोई पृष्ठभूमि नहीं है और उनका मानसिक विकास अत्यन्त हीन है। किन्तु विश्वविद्यालयो की शिक्षा पर पृथक रूप से नही सोचा जा सकता है। शिक्षा की विभिन्न अवस्थाओ में एकता होती है और उच्चतम अवस्था के स्तर मे ह्रास हो रहा है तो इसका कारण यह है कि नीचे का स्तर जैसा होना चाहिये वैसा नही है। माध्यमिक शिक्षा पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है और उच्चतर शिक्षा को पूर्ण लाभदायक बनाने के लिए इस कडी को सुदृढ बनाना पड़ेगा। इसका यह अर्थ नही है कि विश्वविद्यालयो की शिक्षा बिलकुल दोपरहित है। ज्ञान के क्षितिज का अपार विस्तार होने के कारण आधुनिक काल के किसी विद्यार्थी को

पुराने समय के अपने अग्रजो से अधिक जानकारी रखने की आवश्यकता है। समुचित मानसिक विकास के लिये उसे यह जानना आवश्यक है कि वर्तमान जीवन पर विज्ञान की छाप का समाज की दृष्टि से वस्तुत क्या महत्व है। उसे सामाजिक कल्याण के लिये विज्ञान की महत्ता को समझने की कोशिश करनी चाहिये। इसके अतिरिक्त उसे जनतान्त्रिक भावो तथा सामाजिक आदर्शों से ओतप्रोत होना चाहिए। इसलिये भौतिक तथा सामाजिक विज्ञानो के साथ मानवता का योगदान श्रेयस्कर कहा जाता है। इससे सकीर्ण विशेषीकरण के दोषो का परिहार करने मे भी सहायता मिलेगी। एक व्यापक आधार पर प्रतिष्ठित सस्कृति और सामान्य शिक्षा सभी विशेषीकृत शिक्षा की पृष्ठभूमि होनी चाहिये। उपर्युक्त पृष्ठभूमि के बिना किसी वृत्ति विशेष की योग्यता प्राप्त कर लेने से विद्यार्थी जीविकोपार्जन करने मे तो समर्थ हो जायगा, किन्तु इससे उसकी जीवन की समुचित तैयारी पूरी नही हो सकेगी। एक मनुष्य को केवल रोटी से ही सन्तुष्ट नही हो जाना है, बल्कि उसे अपने समाज का भी उपकार करना है और एक स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक राज्य के नागरिक की हैसियत से अपने अधिकारो के उचित प्रयोग तथा कर्त्तव्यो का निर्वाह करना है। अगर माध्यमिक शिक्षा को सही तरीके से सगठित किया जाय तो सब त्रुटिया काफी हद तक दूर हो जायगी। किन्तु जबतक यह कार्य सम्पन्न नही होता है, विश्वविद्यालयो मे सामान्य शिक्षा के पाठ्यक्रम की व्यवस्था होनी चाहिये जैसा कि सयुक्त राज्य अमरीका के कुछ कॉलेजो मे हुआ है। विश्व-विद्यालय के प्रत्येक विद्यार्थी को, चाहे वह किसी विभाग का हो, अपने देश के विधान की रूपरेखा, भूतकालीन इतिहास तथा आधुनिक विश्व के सम्बन्ध में कुछ जानकारी रखना चाहिये। उसे आधुनिक विचारधारा का भी कुछ ज्ञान होना चाहिये और अपने लिये एक सामाजिक दर्शन बनाने की कोशिश करनी चाहिए। उसे वैज्ञानिक विचार-पद्धति का अभ्यास करना चाहिए और उसकी विचार-प्रक्रिया तर्कपूर्ण होनी चाहिये। इसका तात्पर्य यह नहीं कि विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रम में परीक्षा की दृष्टि से इन विषयो का समावेश किया जाय। यह वाछनीय भी नही है। अगर 'एक्सटेंशन लेक्चर' की व्यवस्था की जाय और शिक्षक और शिक्षार्थी मे निकट सम्पर्क स्थापित किया जाय तो नवयुवक विद्यार्थियो पर बिना अधिक भार डाले ही यह उद्देश्य सिद्ध हो सकता है। 'ट्यूटोरियल' पद्धति को सुसगठित कर देने से यह अधिक लाभदायक हो जायगा।

इसमे सन्देह नही कि यह खर्चीली व्यवस्था है, किन्तु अगर हम अपने विद्यार्थियो का सचमुच बौद्धिक विकास करना चाहते हैं तो इस अतिरिक्त व्यय की परवाह नही करनी चाहिये।

वर्तमान राष्ट्रीय सघर्ष के युग मे जबकि लोगो को युद्ध की बराबर आशका बनी रहती है, यह आवश्यक है कि हम लोग विश्व-शान्ति और अन्तरराष्ट्रीय सद्भाव की अभिवृद्धि मे अनवरत प्रयत्न करते रहे। इस सघर्ष के कारणो का उन्मूलन करने में शिक्षा भी कुछ हद तक सहायक हो सकती है। दुर्भाग्यवश शिक्षा मे प्रधान भावधारा अब भी अति राष्ट्रवादी है, और यद्यपि सयुक्त राष्ट्रसघ की ओर से विभिन्न राष्ट्रो मे सद्भाव बढाने के लिये एक अन्तरराष्ट्रीय सस्था स्थापित की गयी है और यह घोषित किया गया है कि "मनुष्यो के मानस को व्यवस्थित करने के लिए सस्कृति का व्यापक प्रसार आवश्यक है" और तदनुसार मौलिक शिक्षा का एक विश्वव्यापी कार्यक्रम भी तैयार किया गया है, किन्तु यह प्रयास आशिक रूप से भी सफल नही हो सकता है जब तक कि उसे शिक्षा के अन्दर तीव्र राष्ट्रवादी नीति मे हस्तक्षेप करने का पर्याप्त अधिकार न दिया जाय। सबसे बड़ा अपराध इतिहास और भूगोल की शिक्षा मे होता है। इसमे सामान्य प्रवृत्ति अपने देश को अति मूल्यवान करने की होती है। छोटे-मोटे भेदभाव को आत्यन्तिक रूप दे दिया जाता है और समता की काफी उपेक्षा की जाती है। हमारा राष्ट्रीय स्वाभिमान और दूसरे राष्ट्रो के प्रति अनभिज्ञता उनके बीच एकता स्थापित करने मे बाधक होती है। किन्तु यह समझना गलत है कि केवल शैक्षणिक प्रयाग से ही इन सब विरोधो का उन्मूलन हो जायगा। इन रोग का कारण अधिक गहरा है। इसके कारण न केवल मनोवैज्ञानिक हैं, बल्कि राजनैतिक और आर्थिक भी हैं। जब तक इन सब कारणो का उन्मूलन नही हो जाता है तब सघर्ष का निराकरण नही हो सकता है। शिक्षा इतना ही कर सकती है कि वह अन्य राष्ट्रो के प्रति सम्मान का भाव उत्पन्न करे, और यह बतावे कि सामाजिक व्यवहार को कुछ हद तक नियन्त्रित किया जा सकता है और अभिप्सित सामाजिक परिवर्तन न्यूनतम सघर्ष से ही सम्पन्न हो सकता है।

अब मैं दो-एक अन्य बातो का उल्लेख करना चाहता हू जो आजकल विद्वत्परिषदो मे अक्सर चर्चा का विषय बनी हुई है। इनमे एक शिक्षा के माध्यम से सम्बन्ध

रखता है। राष्ट्रभाषा का प्रश्न अन्तिम रूप से हल हो गया है। प्रायोगिक रूप से यह भी निश्चय हो गया है कि विश्वविद्यालय मे भी प्रादेशिक भाषा शिक्षा का माध्यम होनी चाहिये। मेरे विचार से इस प्रश्न पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। मेरा मत है कि विश्वविद्यालय मे शिक्षा का माध्यम राष्ट्रभाषा होनी चाहिये। १९४९ मे शिक्षा विभाग की ओर से उपकुलपतियो का जो सम्मेलन बुलाया गया था, उसमे मैंने यह विचार व्यक्त किया था, किन्तु उस समय इमे पर्याप्त समर्थन नही प्राप्त हो सका। प्रादेशिक भाषा के पक्ष मे निर्णय से शिक्षा मे सकीर्णता को निश्चत रूप से प्रोत्साहन मिलेगा। अन्तर-विश्वविद्यालय बोर्ड समान शिक्षास्तर की आवश्यकता पर जोर दे रहा है ताकि एक विश्वविद्यालय से दूसरे विश्वविद्यालय मे विद्यार्थियो का आवागमन सुगम हो सके। किन्तु अगर विश्वविद्यालयो मे प्रादेशिक भाषा को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया गया तो आवागमन बिलकुल असम्भव हो जायगा। अध्यापको की नियुक्ति भी प्रादेशिक आधार पर करनी पडेगी और चुनाव का क्षेत्र अत्यन्त सीमित हो जायगा। इस कार्य-प्रणाली से शिक्षा-स्तर मे ह्रास तथा प्रान्तीयता मे अभिवृद्धि होना आवश्यम्भावी है। जब 'यूनस्को' मे बडे पैमाने पर विद्यार्थियो के अन्तरराष्ट्रीय आवागमन पर विचार हो रहा है और शिक्षा के क्षेत्र मे अन्तरराष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करने की योजना बन रही है, हम अभी तक प्रदेश के आधार पर ही सोचने मे लगे हुए है, राष्ट्र को भी अपना आधार नही बना सके है। जब तक हम विभिन्न प्रदेशों के सास्कृतिक सम्बन्ध को सुदृढ नही बनाते है और बडी सख्या मे ऐसे लोगो को तैयार नही करते जो एक सामान्य भाषा मे अपने सर्वोत्कृष्ट विचारो को व्यक्त कर सकें तब तक हिन्दुस्तान मे राष्ट्रीय एकता स्थापित नही हो सकती है। अगर हम प्रत्येक विश्वविद्यालय मे आधुनिक भारतीय भाषाओ की शिक्षा की व्यवस्था कर दें और विश्वविद्यालयो मे राष्ट्रभाषा को शिक्षा का माध्यम बना दें तो यह उद्देश्य सफल हो सकता है। यह क्रम धीमी गति से होगा और ऐसी नीति का अनुसरण करना भी आवश्यक है, किन्तु अगर हम अभी निश्चय नही कर लेते है तो विश्वविद्यालयो मे शिक्षा का एक सामान्य माध्यम कभी नही हो सकेगा। मैं आप लोगो को आश्वासन देना चाहता हू कि मैं हिन्दी के प्रति पक्षपात पूर्ण दृष्टि से प्रेरित होकर यह प्रस्ताव नही रख रख रहा हू अगर किसी अन्य भारतीय भाषा को सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया जाय तो मैं तुरन्त उसे

मनवा लूगा। मेरी एक मात्र आकाक्षा राष्ट्रीय एकता का निर्माण है। इसी कारण से मैं इस विचार का प्रतिपादन करता हू कि दक्षिण भारत की किसी एक भाषा का अध्ययन उत्तर भारत के विश्वविद्यालयो मे अनिवार्य कर दिया जाय। मेरा यह भी विचार है कि सभी भारतीय भाषाओ की एक सामान्य लिपि होनी चाहिए, किन्तु मैं किसी विशेष लिपि का पक्षपाती नहीं हूँ। अगर ऐसा सुधार किया जाय तो हम मे से प्रत्येक के लिए कुछ अन्य भारतीय भाषाओं को अधिक सुविधापूर्व और अपेक्षाकृत स्वल्प काल मे ही सीख लेना आसान है। मैं जानता हूँ कि लोग इस समय मेरे सुझाव का समर्थन नही कर रहे हैं, किन्तु मुझे तनिक भी सन्देह नही कि कालक्रम मे व्यावहारिकता और राष्ट्रीय एकता स्थापित करने की सुदृढ़ इच्छा के फलस्वरूप हमलोग उन्हें अपनाने के लिये बाध्य होंगे।

राष्ट्रीय शिक्षा की योजना मे सास्कृतिक अध्ययन के महत्व के प्रश्न पर भी मैं आप लोगो का ध्यान आकृष्ट करना चाहता हू। खेद के साथ कहना पडता है कि इसे यथोचित स्थान नही प्राप्त हो सकता है। अगर विदेशो मे हमे सम्मान प्राप्त होता है तो इसका कारण हमारी पुरानी विरासत है और टैगोर और गाधी जैसे महापुरुष हैं, किन्तु स्वतन्त्र भारत मे सस्कृत के अध्ययन मे ह्रास हुआ है और इस प्रवृत्ति को रोकने की कोई कोशिश नही की गयी है। आल इण्डिया ओरियण्टल काग्रेस ने भारतीय विद्या मे उच्च अध्ययन और अनुसन्धान को प्रोत्साहित करने के लिए एक सेण्ट्रल रिसर्च इटीट्यूट स्थापित करने की माग की थी, किन्तु सरकार ने आर्थिक कठिनाई के बहाने उसे स्वीकार नही किया। हम अपनी प्राचीन सस्कृति के प्रति मौखिक सहानुभूति प्रदर्शित करते हैं और इसका व्यवसाय भी करते हैं, किन्तु जब कुछ करने की बात होती है तो अर्थाभाव के बहाने इसकी सुरक्षा के लिये कुछ भी करने मे अपनी असमर्थता प्रकट करते हैं। यह मिथ्या मितव्ययिता है। सस्कृत भारतीय विचारधारा और सस्कृति का उद्गमस्थान है और अगर हम अपनी सस्कृति का प्रसार करना चाहते हैं तो हमे सस्कृत, पाली और प्राकृत के महत्वपूर्ण ग्रन्थो का भारतीय भाषाओ मे अनुवाद प्रकाशित करना चाहिये। हमे प्राचीन हस्तलेखो तथा ऐतिहासिक खोजो को भी प्राप्त करने और सुरक्षित रखने की समुचित व्यवस्था करनी चाहिये। यह लज्जास्पद बात है कि अब भी भारतीय विद्यार्थी सस्कृत

का उच्च ज्ञान प्राप्त करने के लिये विदेश जाते है। आधुनिक अनुसधान-पद्धति सिखाने के लिये हम कुछ विदेशी भारतीय विद्याविशारदो को सहायता के लिए आमन्त्रित कर सकते है। वे इन क्षेत्रों मे कुछ नवयुवको को सुशिक्षित भी कर सकते है जिनमे हम हीन है, किन्तु धीरे-धीरे हिन्दुस्तान को विश्व म सस्कृत विद्या का मुख्य केन्द्र बनाना चाहिये और विदेशो से विद्यार्थियो तथा विद्वानो को आकृष्ट करना चाहिये।

मैंने शिक्षा मे सम्बन्धित कुछ मौलिक और महत्त्वपूर्ण प्रश्नो की सक्षेप मे चर्चा की है। अगर शिक्षा का ध्येय उचित रीति से निर्धारित कर दिया जाय और शिक्षा के गत्यात्मक पक्ष को स्वीकार कर लिया जाय तो अध्ययन की एक समन्वित योजना तैयार करने मे कोई कठिनाई नही होगी। राष्ट्रीय पुनर्निर्माण का कार्य महान् है, क्षेत्र बृहद् है, पर कार्यकर्त्ता स्वल्प है। हमारी मानव-शक्ति परिमित है और भौतिक साधन अत्यन्त अपर्याप्त है, किन्तु राष्ट्रीय जीवन मे शिक्षा का महत्त्वपूर्ण स्थान होने के कारण जनता की आधारभूत भौतिक आवश्यकताओ को छोड़ कर अन्य सभी विषयों मे इसे प्रथम स्थान मिलना चाहिये। इसमे ऐसे कुछ ही व्यक्ति है जिनमे शिक्षा को नयी दिशा प्रदान करने के लिये आवश्यक दृष्टि तथा गम्भीर बुद्धि है। ऐसे बहुत कम व्यक्ति है जिन्हे इस कार्य मे सजीव आस्था है, किन्तु ऐसे व्यक्तियो की सख्या चाहे कितनी कम क्यो न हो, उन्हें शिक्षा मे नये आन्दोलन का सूत्रपात करने के लिये एक सगठन अवश्य बनाना चाहिये। हिन्दुस्तान इस दलदल से तभी पार पा सकता है जब यहा के राजनीतिज्ञ और अध्यापक अपने दायित्व के प्रति सचेत हो। एक राजनीतिज्ञ को यह समझना चाहिये कि स्वतन्त्रता प्राप्ति से पहले भाषण देने का जो महत्व था वह अब नही रह गया है। आज उसमे पर्याप्त मात्रा मे बुद्धिमत्ता, साहस और रचनात्मक विचार का होना आवश्यक है। एक अध्यापक को यह समझना होगा कि नवयुवको को भावी जीवन के लिये तैयार करना तथा उनके अन्दर जनता की सेवा करने के लिये कुशलता उत्पन्न करना अध्यापक का पुनीत कर्तव्य है।

जिन परिस्थितियो में हम लोगो को कार्य करना है, वे हतोत्साही है। सम्भव है कि अधिकार-लिप्सा के कारण राजनीतिज्ञ स्थितिकी वास्तविकता का अनुभव न करे। उसे बुद्धि की आवाज भी नही सुनायी दे सकती है, किन्तु अध्यापक

अभी काफी हद तक अधिकार-लिप्सा के रोग से मुक्त हैं, उनसे ऐसी स्थिति मे आगे बढने की आशा की जा सकती है। हमे हाथ पर हाथ रख कर बैठना नही चाहिये, इस विश्वास के साथ कि अनन्योगत्वा कुछ भला ही होगा। घटना-प्रवाह, गलतदिशा मे उन्मुख है और अगर हम लोग दृढतापूर्वक इस पतन की प्रक्रिया को नही रोकते है तो हम महासकट मे फस जायगे। समता, सामाजिक न्याय और सहयोग पर आधृत एक जनतान्त्रिक समाज के निर्माण करने के लिये हमे एक नये प्रकार के मनुष्यो की आवश्यकता है। यद्यपि केवल चन्द व्यक्तियो को ही यह नूतन दृष्टि प्राप्त हो सकी है, तो भी शिक्षा के इस नये दृष्टिकोण का सामाजिक महत्व है, यह प्रसार और शक्ति-सचय अवश्यम्भावी है और इस प्रकार कालक्रम मे यह सर्वमान्य हो जायगा। फिलहाल यह छोटा-सा सगठन वह मथन-कार्य करेगा जिससे प्रकाश प्रकाशित होगा।

भारतीय राष्ट्रीयता का सवाल

आचार्य नरेन्द्रदेव

एक साथी जो स्वय जनतान्त्रिक समाजवाद मे विश्वास करते है, उनको कदाचित् यह भी भ्रम है कि समाजवादी व्यवस्था चुनाव द्वारा स्थापित होनी चाहिए। वह स्वय जनतान्त्रिक समाजवाद को वैधानिक समाजवाद (यह उन्ही के शब्द हैं) से भिन्न मानते है और इसीलिए उनका उस पर विश्वास है। वह अन्तिम सघर्ष का चित्र भी चाहते है।

मद्रास के अधिवेशन मे जनतान्त्रिक समाजवाद के बारे मे कुछ लोगो ने अपना मतभेद प्रकट किया है। कुछ लोग ऐसे अवश्य हैं जो जनतान्त्रिक समाजवाद मे विश्वास नही रखते, कुछ ऐसे भी हैं जिनको इस सम्बन्ध मे कुछ सन्देह है और जो कुछ निश्चय नही कर पाते। अरुणा जी के वक्तव्य से मालूम होता है कि वे अभी किसी निश्चय पर नही पहुची है और वे इस विषय का अध्ययन कर रही है।

जो प्रश्न मुझसे पूछे गये हैं उनका तो मैं उत्तर दूगा ही किन्तु मुझे इसकी भी आवश्यकता प्रतीत होती है कि मैं जनतान्त्रिक समाजवाद और भारत मे जनतन्त्र के विचार साथियो के सम्मुख रखूं।

टोटैलिटेरियन कम्युनिज्म के विपक्ष मे 'जनतान्त्रिक समाजवाद' शब्द का व्यवहार किया गया है। इसका योरप की स्पेशल डेमोक्रैसी' से कोई सम्बन्ध नही है। 'टोटैलिटेरियन कम्युनिज्म' जनतन्त्र का निषेध है। वहा कम्युनिस्ट पार्टी के अतिरिक्त कोई दूसरी राजनीतिक पार्टी नही रहने पाती, गवर्नमेट का कोई विरोध नही कर सकता। मजदूरो की सस्थाए स्वतन्त्र नही है। उनको हडताल करने का अधिकार नही है। यदि कोई मजदूर अनुशासन भग करता है तो कानून के अनुसार उसको दण्ड दिया जाता है। वहा व्यक्ति स्वातन्त्र्य नही है और राज्य का नागरिको के जीवन पर अक्षुण नियन्त्रण और अधिकार है।

मार्क्सवाद का यह कभी लक्ष्य नही रहा है। मार्क्सवाद का लक्ष्य आर्थिक की अपेक्षा सांस्कृतिक अधिक है। श्रमजीवियो की गरीबी पर मार्क्स का ध्यान अवश्य गया है किन्तु इससे भी अधिक उसने पूंजीवादी आर्थिक पद्धति के फलस्वरूप मानवता का जो ह्रास होता है उसका विचार किया है। मार्क्स की विचार-सरिणी का मुख्य विषय मानव है। धार्मिक संस्थाओं तथा सामन्तशाही और पूंजीवादी पद्धति के कारण मानव अपने स्वरूप को खो बैठता है, उसका स्वरूप विकृत हो जाता है और वह अपूर्ण रह जाता है। समाज मे किसी न किसी वर्ग की प्रधानता रहती है। वह समाज के आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर अधिकार प्राप्त करता है। वह आर्थिक संस्थाओं का संचालन अपने वर्ग के लाभ के लिए करता है और बहुजनसमाज का हर प्रकार से शोषण होता है। राज्य-वर्ग विशेष के हितो की रक्षा के लिए होता है। यह रक्षा फौज और पुलिस द्वारा होती है। इसीलिए राज्य हिंसा पर आश्रित होता है। जब समाज वर्गों मे बटा होता है तो विभिन्न वर्गों मे शांति बनाये रखने के लिए भी 'राज्य' ऐसी किसी संस्था की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से 'राज्य' सब वर्गों के ऊपर भी होता है। इस शान्ति से उस प्रधान वर्ग का जो राज्य का अधिकारी है, हित साधित होता है। किन्तु इस कार्य को सपन्न करने के लिए 'राज्य' को ऐसा स्वरूप बनाए रखना होता है जिसमे सब यह समझें कि राज्य सब वर्गो को समान दृष्टि से देखता है और किसी वर्ग विशेष का नही है। जितनी मात्रा मे यह विश्वास सर्वसाधारण मे घर कर जाता है उतनी ही मात्रा मे 'राज्य' का काम सुलभ हो जाता है। इस कार्य मे धर्म और कानून सबकी सहायता की जाती है।

मार्क्स ने देखा कि जब तक समाज वर्गो मे बटा है, तब तक किसी न किसी वर्ग की प्रधानता रहेगी और एक छोटा-सा वर्ग श्रमजीवियो के बड़े समुदाय का शोषण करता रहेगा। यह शोषण आर्थिक और सांस्कृतिक दोनो प्रकार का है। परिणाम यह होता है कि पूजीवादी समाज मे भी केवल थोड़े से व्यक्तियो को ही पूर्ण विकास के लिए अवसर मिलते हैं तथा करोड़ो सामान्य व्यक्ति पशुका जीवन व्यतीत करते हैं। वह उन साधनो से वंचित है जिनके उपलब्ध होने पर ही व्यक्तित्व का विकास हो सकता है। पूजीवादी समाज का राजनीतिक जनतन्त्र केवल वोट देनेकी स्वतन्त्रता देता है, समाज का आर्थिक शोषण नहीं

बन्द करता। जनसाधारण की शिक्षा भी केवल इसलिये होती है कि वह अपने वोट का उचित उपयोग कर सके।

अत मार्क्स ने वर्गहीन समाज की स्थापना का उद्देश्य अपने सामने रखा। इस समाज मे उत्पादन के सब साधनो पर समाज की मिल्कियत होगी, श्रम के उपकरण सकल समाज के होंगे और उत्पादन का सगठन इस आधार पर होगा कि उत्पादन स्वच्छदता के साथ समानता के आधार पर एक दूसरे के सहयोग से होगा। ऐसे समाज मे शोषण और उसके कारण होने वाले सघर्ष बन्द हो जावेंगे तथा आज की घोर विषमताए विलुप्त हो जावेंगी। मानव स्वभाव धीरे-धीरे बदलने लगेगा और बिना नियन्त्रण या बल-प्रयोग के लोग सामाजिक जीवन के सामान्य नियमो का पालन करने के अभ्यस्त हो जावेंगे। ऐसी अवस्था मे 'राज्य' के वे अग जिनका उद्देश्य नियन्त्रण करना या दण्ड देना है, अनावश्यक हो जावेंगे। जब ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जायगी तब राज्य मुरझा कर, विलुप्त हो जावेगा। इसका यह अर्थ नही है कि कोई अधिकारी न रह जावेगा अथवा प्रबधक और व्यवस्थापक अनावश्यक हो जावेंगे। अनार्किस्टो को उत्तर देते हुए एगेल्स कहते हैं कि यह कहना मूर्खता होगी कि किसी का दूसरो पर अधिकार हुए बिना ही समाज का सचालन हो सकता है। राज्य के क्रमश विलोप का यह अर्थ कदापि नहीं है कि व्यवस्था अथवा अधिकारी सस्था का भी लोप हो जावेगा। इनके बिना तो किसी समाज का काम ही नही चल सकता। राज्य के विलोप का केवल इतना अर्थ है कि राज्य के वह चरित्र जो दूसरो का नियन्त्रण करते है अथवा उनको दण्ड देते है, विलुप्त हो जावेंगे। सेना और पुलिस की आवश्यकता नही रह जावेगी। यह अवस्था कब होगी यह कहा नही जा सकता।

एक बार यह प्रश्न लेनिन से किया गया था। उन्होने भी यही उत्तर दिया था बल्कि यह कहा था कि इसमे बहुत समय लगेगा। यह स्पष्ट है कि जब तक ससार के एक बहुत बडे हिस्से पर समाजवाद की स्थापना नही हो जाती और उसकी प्रधानता उसी प्रकार नही कायम हो जाती जिस प्रकार एक समय पूजीवाद की हो गयी थी तब तक राज्य का विलोप नही हो सकता। कदाचित मार्क्स और एगल्स ने भी अन्तर्राष्ट्रीय समाजकी दृष्टि से ही ऐसी बातें कही थी। रूसी क्रांति के समय से ही पूजीवादी राष्ट्र उसको विफल करने की चेष्टा

मे लगे रहे। आरम्भ मे तो विरोधी वर्ग भी विदेशियों से मिलकर षडयन्त्र रच रहे थे किन्तु आगे चलकर जब इन वर्गों का प्रभाव नष्ट हो गया और समाजवाद की स्थापना हो गयी तब भी पूजीवादी राष्ट्र विरोध करते ही रहे। हिटलर से अपनी जान बचाने के लिये पश्चिमी योरप के राष्ट्र उसको सोवियत रूस पर आक्रमण करने के लिए प्रोत्साहित करते रहे। यह ठीक है कि आज रूस की शक्ति बहुत बढ गई है और योरप की कोई शक्ति उस पर आक्रमण करने का स्वप्न नही देखती है। किन्तु दूध का जला छाछ भी फूक-फूक कर पीता है। पुन गत महायुद्ध के बाद अमरीका की शक्ति बहुत बढ गई है और वह, धीरे-धीरे साम्राज्यवादी भावनाओ को अपना रहा है। ऐसी अवस्था मे रूस बहुत सशक है। सन्देह का वातावरण इतना फैल गया है कि रूस समझता है कि अमरीका उस पर आक्रमण करना चाहता है और अमरीका समझता है कि रूस उस पर आक्रमण करना चाहता है। ऐसी अवस्था मे रूस अपनी फौज को कैसे तोड सकता है ?

मार्क्स के वर्गविहीन समाज की जो कल्पना है उससे स्पष्ट है कि वह पूर्ण जनतन्त्र का सबसे बडा पक्षपाती था। कम्युनिज्म की जो चरम अवस्था है वह मार्क्स के अनुसार आत्म-निग्रह-संपन्न है। उसका सास्कृतिक स्तर इतना ऊचा हो गया है कि जनसाधारण स्वत बिना किसी बाहरी नियन्त्रण के या राज्यदण्ड के भय के सहयोग की भावना से प्रेरित हो समाज का सचालन करते हैं। जनतन्त्र का यह चरम विकास है। एक देश मे यदि समाजवाद की स्थापना हो जाय अर्थात् यदि वहा का समाज वर्गविहीन हो जाय तो यद्यपि ससार की वर्तमान स्थिति मे उस देश मे राज्य का लोप तो नही होगा तथापि वहा भाषण आदि की स्वतन्त्रता तथा अन्य नागरिक स्वतन्त्रताए सब को प्राप्त हो सकती है तथा जनता का राज्य स्थापित हो सकता है। जनतन्त्र को अलग रखकर समाजवाद की कल्पना ही नही हो सकती। सन् १९१४ मे लेनिन ने कहा था कि जो व्यक्ति राजनीतिक स्वतन्त्रता और जनतन्त्र के प्रश्नों को अपने लिए निरर्थक समझता है वह सोशलिस्ट नही है। प्रत्येक सोशलिस्ट या कम्युनिस्ट पार्टी का यही उद्देश्य होना चाहिए। कम्युनिज्म की स्थापना तो बहुत दूर की बात है। एक देश के वश की तो यह है नही। पता नहीं कब ससार का एक बहुत बडा हिस्सा समाजवाद को स्वीकार करेगा। अत. अधिक से अधिक एक

देश समाजवाद की ही स्थापना कर सकता है अर्थात वर्गविहीन समाज की स्थापना कर जनता का राज्य कायम कर सकता है। इस उद्देश्य का स्पष्ट रूप से निर्देश करना आवश्यक हो गया है। यदि सोवियत रूस मे समाजवाद का पार्थक्य जनतन्त्र से न कर दिया गया होता तो इस स्पष्टीकरण की इतनी आवश्यकता न रहती। सन् १९३६ मे रूस ने एक विधान स्वीकार किया था उसमे नागरिक स्वतन्त्रता का उल्लेख है किन्तु आज उस का यथावत पालन नही हो रहा है। पार्टी की डिक्टेटरशिप आज भी है, यद्यपि यह स्वीकार किया गया है कि रूस मे वर्गहीन समाज की स्थापना हो गई है। डिक्टेटरशिप उद्देश्य तो विरोधी वर्गो को दबाये रहना है। पर जब अन्य वर्गो का नाश हो गया है और अब कोई शोषक वर्ग नही रहा है तो डिक्टेटरशिप जारी रखने का कोई कारण नही है। इसी कारण रूस मे समाजवाद का रूप विकृत हो गया है और उसका प्राण जनतन्त्र क्षीण सा हो गया है। रूस मे सन् १९१७ से अधिनायकत्व चल रहा है और यह भी नही मालूम कि इसका कब अन्त होगा। जिस उद्देश्य से अधिनायकत्व की आवश्यकता पड़ी थी उसकी पूर्ति बहुत दिन हुए हो गई। मार्क्स ने अधिनायकत्व के सम्बन्ध मे बहुत थोडा ही कहा है और जिस अधिनायकत्व की उस ने चर्चा की है उसको वह थोडे ही कालकी वस्तु समझता रहा। उसने यह स्वप्न मे भी न सोचा होगा कि अधि-नायकत्व की अवधि ३०-४० वर्ष की हो सकती है। रूस मे तो उसका उद्देश्य कब का पूरा हो गया, और यदि किसी देश मे इतने दिनो तक अधिनायकत्व रहने पर भी उद्देश्य सफल न हो तो यही कहना होगा कि वह देश समाजवादी क्रान्ति के लिए तैयार न था और कुछ आकस्मिक घटनाओ के कारण ही एक अल्प समुदाय को बहु समुदाय पर हिंसा के सहारे शासन करने का अवसर मिल गया था और वह समुदाय आज भी सर्वसाधारण को अपने पक्ष मे नही ला सका है। लेनिन भी 'अधिनायकत्व' को थोडे ही दिन की बात समझता था। जिस अधिनायकत्व की कल्पना मार्क्स ने की थी वह समुदाय का अल्प समुदाय पर अधिनायकत्व था। विचार यह था कि शोषित वर्ग, जिसकी संख्या बहुत बडी है, अधिनायकत्व का साथ देगा। क्रान्ति तभी होती है जब शोषित वर्ग सजग होकर गवर्नमेंट को बदलने पर तुल जाता है और शासकवर्ग पुराने ढग से शासन करने मे अपने को अधिकाधिक असमर्थ पाता है (लेनिन)। जबतक यह दोनो बाते साथ-साथ नही होती अर्थात लेनिन के शब्दो मे जबतक

समस्त राष्ट्र मे शोषक और शोषित के लिए सकट नही उपस्थित होता तब तक क्रान्ति की कोई सम्भावना नही होती। और जब यह दोनो बातें हैं और अधिनायकत्व की आवश्यकता भी होती है तो अधिनायकत्व विरोधियो के प्रभाव को नष्ट करने का काम बहुत जल्द कर सकता है। यदि किसी युद्ध के बीच मे क्रान्ति होती है और बाहरी शक्तियाँ समाजवाद की स्थापना के काम मे अडचन डालती है तो कुछ अधिक समय लगता है। पर जब यह काम सिद्ध हो जाता है तो अधिनायकत्व को कायम रखने मे कोई हेतु नही रह जाता। पुन जब सभी उत्पादक है और कोई सामन्त, जमींदार या पूजीपति नही है तो यह अधिनायकत्व कौन और किस पर करता है और उद्देश्य क्या है? सोद्देश्य अधिनायकत्व का, आवश्यकता पडने पर, सभी समझदार समर्थन करेंगे। किन्तु ऐसा अधिनायकत्व, जिसका मूल उद्देश्य सफल हो चुका हो और जो विवेचन करने पर थोडे से लोगो का बहु सख्यक लोगो पर, जो समाजवादी श्रमजीवी हैं, निरकुश शासन ठहरता हो, समाजवाद के मूल्यो को नष्ट ही करेगा और मानव को मानव न बनाकर एक दूसरी गुलामी मे डाल देगा। आज मजदूर वर्ग का अधिनायकत्व कायम करना ही पार्टियो का उद्देश्य हो गया है और समाजवाद का मूल उद्देश्य लोगो की आखो से ओझल हो गया है। गत महायुद्ध के पूर्व तक कम्युनिस्ट पार्टिया अपने प्रस्तावो मे सबसे आगे उच्च माध्यमवर्ग के शासन का अन्त और मजदूर वर्ग के अधिनायकत्व की स्थापना ही रखती थीं, लक्ष्य की ओर ध्यान नहीं दिलाया जाता था। इसका बुरा परिणाम यह हुआ कि समाजवाद के नए मूल्यों की और जनतन्त्र की उपेक्षा होने लगी और राजनीतिक दल-बन्दी की प्रधानता हो गई, समाजवाद का रूप भी विकृत हो गया और अधिनायकत्व स्थायी-सा हो गया। यह विधि की विडम्बना है कि 'सतत क्रान्ति से गिरते-गिरते हम अधिनायकत्व पर आकर रुक गये हैं। मालूम होता है अधिनायकत्व से छुटकारा तभी मिलेगा जब ससार के बहुत बडे हिस्से पर समाजवाद कायम हो जायगा और लोग उसका जोरदार विरोध करने लगेंगे। यदि पूजीवादी देशो मे एक प्रकार का जनतन्त्र चल सकता है तो रूस मे कम से कम इतना तो राजनीतिक जनतन्त्र होना ही चाहिए। यदि समय से ऐसा हुआ होता तो फैसिज्म को पनपने का भी अवसर न मिलता।

जो कुछ मैंने ऊपर लिखा है उससे स्पष्ट हो जाना चाहिए कि समाजवाद के

उद्देश्य की स्पष्ट रूप से घोषणा करने की क्यो आवश्यकता पडी। उसे 'कम्यु-निज्म' कह नही सकते, केवल सोशलिज्म भी नही कह सकते क्योकि रूस मे जो प्रचलित है उसे भी सोशलिज्म कहा जाता है। जनतन्त्र का विशेषण देने से ही उद्देश्य का स्पष्टीकरण होता है। यह जनतन्त्र पूर्ण जनतन्त्र है। पूंजीवाद ने जिन मूल्यो की स्थापना की है और जो हमको भी ग्राह्य हैं उनकी रक्षा करते हुए उनमे नए मूल्यो को जोडना पड़ता है जिनका जन्म समाजवाद के कारण होता है। इसका व्याख्यान पालिसी स्टेटमेंट मे है, उसको यहा दोहराने की आवश्यकता नही है।

मेरी समझ मे अभी तक यही नही आया कि क्यो कुछ लोग डमोक्रैटिक सोश-लिज्म पर आपत्ति करते हैं। किसी मार्क्सवादी को तो इस शब्द पर आपत्ति नही करना चाहिये। जनतन्त्र तो कोई चिढने की वस्तु नही है। उसके बिना तो समाजवाद हो ही नही सकता। क्या मार्क्स, क्या लेनिन सभी इसे मानते है। स्टालिन को भी प्रश्न पूछने पर यही उत्तर देना पडेगा। हिटलर के बाद तो कम्युनिस्ट अधिनायकत्व का नाम भी नही लेते। जिसे देखो वही 'जनतन्त्र' का दम भरता है। 'पीपुल्स डेमोक्रैसी' की चर्चा सर्वत्र है। पूर्वी योरप मे अधिनायकत्व नही है। वहा एक नए ढग का जनतत्र है। चीन मे भी ऐसा है और भारतीय कम्युनिस्ट, जो रूस की नकल करते करते थक गये है और अब चीन की नकल करेंगे, इसका (जनता का जनतत्र) नारा यहा भी देने लग गये है। 'नेशनल लिबरेशन' शब्द भी चीन से लिया गया है। पर यह क्यो लिया गया है यह मेरी अल्प बुद्धि मे नही आया। इन नए नारो का रहस्य यह है कि पिछला युद्ध फैसिज्म के विरुद्ध जनतत्र के नाम पर लडा गया था और वह जनतत्र भी पूजीवादी राष्ट्रो का था और इसी नारे के कारण युद्ध मे विजय भी प्राप्त हुई थी। सन् १९३५ में कोमिनटर्न की सातवी काग्रेस मास्को मे हुई थी। इसका उद्देश्य युद्ध और फैसिज्म का विरोध करना था। उसमे सभी ऐसे दलो के साथ सयुक्त मोर्चा बनाने का निश्चय हुआ था जो जनतन्त्र मे विश्वास करते है और फैसिज्म के विरुद्ध है। उस समय पूजीवादी राष्ट्रो के जनतन्त्र का महत्व स्पष्ट हो गया था। इनमे जो नागरिक स्वतन्त्रता अर्थात् भाषण और सगठन की स्वतन्त्रता प्राप्त है उसी की सहायता से मजदूरवर्ग आगे बढ़ता है। उसके लिए इनकी बड़ी

कीमत है। पर सन् १९३५ के पहले बरसो तक कम्युनिस्टो ने कैपिटलिस्ट डेमोक्रैसी की इतनी निन्दा की थी कि पढे लिखे लोगो मे उसके लिए तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो गई थी। इसने फैसिज्म की वृद्धि मे भी सहायता पहुचायी और उदार दल के प्रभाव को अत्यन्त क्षीण कर दिया। किन्तु जब फैसिज्म का उदय हुआ तब उससे भयभीत होकर कम्युनिस्ट पार्टी को अपनी नीति को थोडा बदलना पडा। इसी कारण सन् १९३६ मे रूस को एक नया विधान स्वीकार करना पडा जिसमे नागरिको को अधिकार दिये गये जो जनतांत्रिक देशो मे नागरिको को प्राप्त है। स्टालिन ने जनतान्त्रिक विधान कह कर इसकी प्रशसा की, किन्तु उसके साथ यह भी स्वीकार करना पड़ा कि इस विधान से अधिनायकत्व को क्षति नही पहुचती और कम्युनिस्ट पार्टी का वर्तमान अग्रस्थान भी सुरक्षित रहता है। गुप्त पुलिस वैसी की वैसी जारी रही और विधान की कई धाराएँ कागज पर ही रह गयी। किन्तु यदि सन् १९३६ मे यह घोषणा न की जाती कि रूसी नागरिको को नागरिक अधिकार दिये गये है तो सयुक्त मोर्चे की नई नीति कैसे सफल होती और कोई लिबरल या अन्य प्रगतिशील दल कम्युनिस्टो के साथ युद्ध और फैसिज्म का विरोध करने के लिए क्यो सयुक्त मोर्चा बनाता? जनतन्त्र के नाम पर यदि हिटलर के विरुद्ध सयुक्त मोर्चा सफल हो सकता है तो जनतन्त्र मे कोई नैसर्गिक गुण अवश्य होगा जिसके लिए बहुसख्यक लोग पुराना वैर भुलाकर कम्युनिस्टो के साथ कुछ समय के लिए काम कर सकते है। कम से जनतन्त्र की अपील जबर्दस्त है। कम्युनिस्ट इससे फायदा उठाना चाहते है, इसलिए अब उनके लेखो मे सदा जनता के जनतन्त्र की चर्चा रहती है, डिक्टेटरशिप की नही।

यह सच भी है कि समाजवाद जनता का जनतन्त्र है किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो डेमोक्रैसी शब्द को सुनते ही भडक उठते है। उनके सामने एकदम पार्लिया-मेण्टरी डैमोक्रैसी का चित्र आ जाता है और वह समझने लगते है कि इस सोशलिज्म का चुनाव से अवश्य कुछ सम्बन्ध होगा। चूकि वह क्रातिकारी हैं इसलिए चुनाव से उनको नफरत है। किन्तु यदि पार्टी चुनाव लडना तै करे तो वह यह कह कर आगे आ जावेंगे कि उससे जो हानि होने की सभावना है उससे क्रान्तिकारी ही पार्टी को बचा सकता है। उनके मनमे तरह-तरह के सन्देह उठने लगते है, चाहे यह भी समझ बैठते हैं कि चुनाव द्वारा ही इस

प्रकार का समाजवाद स्थापित किया जायेगा। मंत्री जी ने अपनी रिपोर्ट और भाषण मे सब बातो पर अच्छी तरह प्रकाश डाला है। नीति सम्बन्धी वक्तव्य मे भी काफी प्रकाश डाला गया है। तिस पर भी कुछ लोग इसे स्वीकार नही करते। यह बडे आश्चर्य की बात है। किन उपायो से जनतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना होती है, यह जुदा प्रश्न है। आप का यह विचार हो सकता है कि इसके लिए सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता होगी। किन्तु उद्देश्य मे इससे अन्तर नही पडता। मैं निश्चित रूप से कहना चाहता हू कि जो इस उद्देश्य को नही मानता वह मार्क्सवादी नही है, वह कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट नही है। अब प्रश्न यह है कि जनतान्त्रिक समाज को स्थापना कैसे होनी चाहिये। इस सम्बन्ध मे 'पालिसी स्टेटमेन्ट' मे दो प्रकार का व्याख्यान किया गया है। एक दो जनतान्त्रिक प्रकार कहा गया है और दूसरे को सशस्त्र जनक्रान्तिका प्रकार। समाजवादी सदा समर्थ उपायो का अनुसरण करता है। जो उपाय जिस समय प्रभावशाली होता है उसी से वह काम लेता है। किस उपाय का अनुसरण कब करना चाहिये यह देश और काल पर निर्भर करता है। यह समझना कि सशस्त्र जनक्राति का उपाय सबसे अधिक प्रभावशाली होता है बडी भारी भूल है। इस उपाय से सदा काम नही लिया जा सकता। कोई भी भला आदमी व्यर्थ के लिए हिंसा करना थाडे ही पसन्द करता है? रोजालुक्सेमवर्ग ने कहा है कि रक्त का एक भी बिन्दु निरर्थक बहाना, क्रान्तिकारी के लिए एक अशोभन कार्य है। किन्तु सशस्त्र जन-क्रान्ति की आवश्यकता पडेगी अथवा नही इसकी जिम्मेदारी गवर्नमेंट पर नही है। जब तक जनतन्त्र की रक्षा होती है और नागरिक अधिकारो मे हस्तक्षेप नही होता तब तक सशस्त्र क्रान्ति की कोई आवश्यकता नही है। पुन जब तक राष्ट्रीय सकट शासक और शोषितो के लिए उपस्थित नही होता तक क्राति की सभावना उत्पन्न नही होती और तब तक सशस्त्र जनक्राति के उपयुक्त वातावरण नही होता। आजकल राज्यो की फौजी शक्ति इतनी बढ गयी है और इतने नये-नये शस्त्रो का आविष्कार हो गया है कि सशस्त्र क्राति की बात तभी उठायी जा सकती है जब गवर्नमेंट शासन-कार्य मे अपने को असमर्थ पावे और सर्वसाधारण उसे बदलने के लिये प्राणपण मे तैयार हो जावे। ऐसी स्थिति मे गवर्नमेंट की नैतिक स्थिति बहुत कमजोर हो जाती है और देश मे अराजकता बढने लगती है। तभी सशस्त्र जनक्राति की बात सोची जा सकती है। पार्टी सगठन के लिये तथा किसान

कीमत है। पर सन् १९३५ के पहले बरसो तक कम्युनिस्टो ने कैपिटलिस्ट डेमोक्रैसी की इतनी निन्दा की थी कि पढे लिखे लोगो मे उनके लिए तिरस्कार की भावना उत्पन्न हो गई थी। इसने फैसिज्म की वृद्धि मे भी सहायता पहुँचायी और उदार दल के प्रभाव को अत्यन्त क्षीण कर दिया। किन्तु जब फैसिज्म का उदय हुआ तब उससे भयभीत होकर कम्युनिस्ट पार्टी को अपनी नीति को थोडा बदलना पडा। इसी कारण सन् १९३६ मे रूस को एक नया विधान स्वीकार करना पडा जिसमें नागरिको को अधिकार दिये गये जो जनतांत्रिक देशो मे नागरिको को प्राप्त हैं। स्टालिन ने जनतांत्रिक विधान कह कर इसकी प्रशंसा की, किन्तु उसके साथ यह भी स्वीकार करना पडा कि इस विधान से अधिनायकत्व को क्षति नही पहुचती और कम्युनिस्ट पार्टी का वर्तमान अग्रस्थान भी सुरक्षित रहता है। गुप्त पुलिस वैसी की वैसी जारी रही और विधान की कई धाराएँ कागज पर ही रह गयीं। किन्तु यदि सन् १९३६ मे यह घोषणा न की जाती कि रूसी नागरिको को नागरिक अधिकार दिये गये है तो संयुक्त मोर्चे की नई नीति कैसे सफल होती और कोई लिबरल या अन्य प्रगतिशील दल कम्युनिस्टो के साथ युद्ध और फैसिज्म का विरोध करने के लिए क्यों संयुक्त मोर्चा बनाता? जनतंत्र के नाम पर यदि हिटलर के विरुद्ध संयुक्त मोर्चा सफल हो सकता है तो जनतंत्र मे कोई नैसर्गिक गुण अवश्य होगा जिसके लिए बहुसंख्यक लोग पुराना वैर भुलाकर कम्युनिस्टो के साथ कुछ समय के लिए काम कर सकते है। कम से जनतंत्र की अपील जबर्दस्त है। कम्युनिस्ट इससे फायदा उठाना चाहते हैं, इसलिए अब उनके लेखो मे सदा जनता के जनतंत्र की चर्चा रहती है, डिक्टेटरशिप की नही।

यह सच भी है कि समाजवाद जनता का जनतंत्र है किन्तु कुछ लोग ऐसे हैं जो डेमोक्रैसी शब्द को सुनते ही भडक उठते हैं। उनके सामने एकदम पार्लियामेण्टरी डेमोक्रैसी का चित्र आ जाता है और यह समझने लगते है कि इस सोशलिज्म का चुनाव से अवश्य कुछ सम्बन्ध होगा। चूकि वह क्रांतिकारी है इसलिए चुनाव से उनको नफरत है। किन्तु यदि पार्टी चुनाव लडना तै करे तो वह यह कह कर आगे आ जावेंगे कि उससे जो हानि होने की सभावना है उससे क्रान्तिकारी ही पार्टी को बचा सकता है। उनके मनमे तरह-तरह के सन्देह उठने लगते है, बाजे यह भी समझ बैठते हैं कि चुनाव द्वारा ही इस

प्रकार का समाजवाद स्थापित किया जायेगा। मंत्री जी ने अपनी रिपोर्ट और भाषण में सब बातों पर अच्छी तरह प्रकाश डाला है। नीति सम्बन्धी वक्तव्य में भी काफी प्रकाश डाला गया है। तिस पर भी कुछ लोग इसे स्वीकार नहीं करते। यह बड़े आश्चर्य की बात है। किन उपायों से जनतान्त्रिक समाजवाद की स्थापना होती है, यह दूसरा प्रश्न है। आप का यह विचार हो सकता है कि इसके लिए सशस्त्र क्रान्ति की आवश्यकता होगी। किन्तु उद्देश्य में इससे अन्तर नहीं पड़ता। मैं निश्चित रूप से कहना चाहता हूं कि जो इस उद्देश्य को नहीं मानता वह मार्क्सवादी नहीं है, वह कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट नहीं है। अब प्रश्न यह है कि जनतान्त्रिक समाज की स्थापना कैसे होनी चाहिये। इस सम्बन्ध में 'पालिसी स्टेटमेन्ट' में दो प्रकार का व्याख्यान किया गया है। एक को जनतान्त्रिक प्रकार कहा गया है और दूसरे को सशस्त्र जनक्रान्तिका प्रकार। समाजवादी सदा समर्थ उपायों का अनुसरण करता है। जो उपाय जिस समय प्रभावशाली होता है उसी से वह काम लेता है। किस उपाय का अनुसरण कब करना चाहिये यह देश और काल पर निर्भर करता है। यह समझना कि सशस्त्र जनक्रान्ति का उपाय सबसे अधिक प्रभावशाली होता है बड़ी भारी भूल है। इस उपाय से सदा काम नहीं लिया जा सकता। कोई भी भला आदमी व्यर्थ के लिए हिंसा करना थोड़े ही पसन्द करता है? रोजालुक्सेमबर्ग ने कहा है कि रक्त का एक भी बिन्दु निरर्थक बहाना, क्रान्तिकारी के लिए एक अशोभन कार्य है। किन्तु सशस्त्र जन-क्रान्ति की आवश्यकता पड़ेगी अथवा नहीं इसकी जिम्मेदारी गवर्नमेंट पर नहीं है। जब तक जनतन्त्र का रक्षा होती है और नागरिक अधिकारों में हस्तक्षेप नहीं होता तब तक सशस्त्र क्रान्ति की कोई आवश्यकता नहीं है। पुनः जब तक राष्ट्रीय संकट गम्भीर और श्रमिकों के लिए दुरवस्था नहीं होगा तब क्रान्ति की संभावना उत्पन्न नहीं होती और जब तक सशस्त्र जनक्रान्ति के उपयुक्त वातावरण नहीं होता। आन्तरिक राज्य की फौजी शक्ति इतनी बढ़ गयी है और इसने नये-नये शस्त्रों का आविष्कार हो गया है कि सशस्त्र क्रान्ति की [illegible] जान पड़ती है। जब गवर्नमेंट शासन-कार्य में अपने को असमर्थ पावे और सर्वसाधारण उसे बदलने के लिये प्राणपण से तैयार हो जावें। इस स्थिति में गवर्नमेंट की नैतिक स्थिति बहुत कमजोर हो जाती है और देश में उग्रता बढ़ जाती है। ऐसी अवस्था में जनक्रान्ति की बात सोची जा सकती है। पार्टी संगठन के लिए नया विचार

मजदूरो को वर्ग-सस्थाओ मे सगठित करने के लिए दूसरे प्रकार की आवश्यकता पडती है। ऐसे प्रकार से तो सदा काम लेना पडता है। इसे पालिसी स्टेटमेंट मे जनतान्त्रिक प्रकार कहा गया है। किन्तु वहा यह भी स्पष्ट कर दिया है कि इसमे पार्लियामेंट के अतिरिक्त अन्य उपायो का भी समावेश है और इन अन्य उपायो को गिनाया भी है। यह अन्य उपाय प्रचार, सगठन, हडताल, सत्याग्रह आदि है। अत जनतान्त्रिक प्रकार को वैधानिक प्रकार कहना ठीक नही है। वैधानिक उपाय इस प्रकार का बहुत ही छोटा-सा अश है और यह भी बेकार साबित होता है यदि अन्य जनतान्त्रिक उपायो से काम न लिया जाय। अन्य जनतान्त्रिक उपाय ही मुख्य हैं। सामान्यत इन्ही का आश्रय लेना पडता है। इनके बिना सशस्त्र जनक्राति की भी भूमिका तैयार नही होती। किन्तु सशस्त्र जनक्राति और विप्लववाद दो भिन्न वस्तुएँ है। लेनिन ने विप्लववाद को त्याज्य बताया है। यह सदा विफल होता है और उद्देश्य को क्षति पहुचता है। मार्क्स ने यह भी कहा है कि स्थिति के परिपक्व हुए बिना असावधानी से क्राति कर देना मूर्खता है।

मार्क्स ने इस प्रश्न पर विचार किया है कि शान्तिमय उपायो से समाजवाद की स्थापना हो सकती है या नही। सन् १८७२ मे मार्क्स ने यह स्वीकार किया था कि हालैंड और अमरीका मे इसकी सभावना है किन्तु अन्यत्र नही है। मार्क्स की मृत्यु के तीन वर्ष पीछे एगेल्स ने यह स्वीकार किया था कि इगलैंड मे शान्तिमय समाजवादी क्राति सभव है। लेनिन ने इस प्रश्न पर विचार करते हुए लिखा है कि मार्क्स के समय मे यह मत बिल्कुल ठीक था किन्तु सन् १९१७ मे इसकी सभावना जाती रही है। स्टालिन ने बहुत पीछे एक अवसर पर कहा था—कुछ ऐसे पूजीवादी देशो मे शातिमय परिवर्तन की सभावना है जो समाजवादी राष्ट्रो से घिरे हो। पूर्वी योरप के कुछ देशो मे ऐसा ही हुआ है। बुलगेरिया के कम्युनिस्ट प्रधान मत्री डिमिट्राव और पोलैंड के गोमुल्का ने अपने भाषणो मे इसका जिक्र किया था कि उनके देशो मे समाजवाद की स्थापना शान्तिमय ढग से होगी। साधारण रीति से मार्क्सवादियो का मत यही है कि शान्तिमय ढग से समाजवाद की स्थापना होना कठिन है। जिस देश मे पार्लियामेंट की प्रथा है और समय-समय पर चुनाव होता है वहा भी यह कहना कठिन है कि यदि विरोधी दल को चुनाव मे सफलता मिली तो शासक दल

उसे खामोशी से अधिकार सौप देगा या नही। पहले तो वह हर तरह की धाधली करके उसको सफल होने नही देगा। जहा जनतन्त्र बहुत कमजोर हैं वहा प्राय ऐसा ही होगा। और यदि चुनाव मे सफलता मिल गयी तो यह भी सभव है कि शासक वर्ग उसका दमन करे और अधिकारारूढ होने न दे। यह भी सभव है कि हार के डर से वह चुनाव को निरन्तर टालता रहे।

भारत मे क्या होगा, आज कहना कठिन है। काग्रेस को अभी इसका डर नही है कि चुनाव मे उसकी इस प्रकार हार हो जावेगी कि उसे अधिकार हस्तान्तरित करना पडे। ६ वर्ष के बाद क्या होगा, कौन कह सकता है! इतना अवश्य कहा जा सकता है कि यहा कभी कांग्रेस की हार होगी। यहा लोकमत बहुत तेजी से बदलेगा। ऐसा नही है कि जीतने वाले पक्षको ५५ प्रतिशत सीटे मिलें और काग्रेस को ४५ प्रतिशत।

जब कभी काग्रेस की हार होगी तब उसके पैर वैसे ही उखडेंगे जैसे उसके विरोधियो के उखडे थे। यह क्रम बहुत धीरे धीरे नही होगा, एकाएक होगा। यदि उन्होने जनतन्त्र का आदर किया तो ठीक है किंतु यदि उन्होने चुनाव के निर्णय को स्वीकार नही किया या हारने के भय से चुनाव को अनिश्चित काल के लिए स्थागित कर दिया तो यह जनतन्त्र का निषेध होगा और उस समय दूसरे मार्ग को अपनाने के लिए समाजवादी बाध्य हो जावगे। किन्तु इसका यह अर्थ नही होगा कि क्राति का आरम्भ तत्काल हो जावेगा। क्राति का समय कोई निश्चित नही कर सकता। क्राति अपना समय स्वय निश्चित करती है। केवल इतना होगा कि तैयारी दूसरे ढग की आरभ हो जावेगी।

इसी सबध मे मार्क्स ने मजदूर वर्ग के अधिनायकत्त्व के प्रश्न पर भी विचार किया है। यह अधिनायत्त्व पार्टी का नही है, मजदूर वर्ग का है। सन् १९०५ मे बुर्जुआ डेमोक्रैटिक क्राति का विचार करते हुए लेनिन ने 'डेमोक्रैटिक डिक्टेटरशिप आव वरकर्स एण्ड पीजैंट्स' की बात सोची थी। कारण यह है कि यह अधिनायकत्व बहुसख्यक का अल्पसख्यक पर होता है। किन्तु रूस मे मजदूरो की सख्या बहुत अल्प थी। इस कारण लेनिन ने मजदूरो के साथ किसानो को भी शामिल करना चाहा और यह दिखाने के लिए कि जहा तक शोषित वर्ग का सम्दन्ध है यह अधिनायकत्व जनतान्त्रिक है, डेमोक्रैटिक शब्द को भी जोड दिया। वास्तव मे अधिकायकत्व विरोधी-वर्गों के दमन के लिए

कायम किया जाता है और शोषितों का शासन जनतान्त्रिक ढग से होता है। उद्योग व्यवसाय के समाजीकरण मात्र से उच्च मध्यम वर्ग की शक्ति तत्काल विनष्ट नही होती। उसके पीछे भी कुछ काल तक बनी रह सकती है। इसलिए अधिनायकत्व की आवश्यकता होती है। किन्तु इसकी आवश्यकता बहुत थोडे समय तक रहती है। यदि शासक वर्ग ने चुनाव ईमानदारी से कराया और यदि उसकी हार हुई और उसने उसे स्वीकार कर लिया तथा विरोधी दलको शासनारूढ होने मे बाधा नही पहुचाई तो अधिनायकत्व की आवश्यकता न होगी। किन्तु यहा क्या होगा, कुछ कहा नही जा सकता। इसका निर्णय समय पर ही हो सकता है। इस सम्बन्ध मे अपना दिमाग खुला रखना चाहिए। किन्तु दो बातें स्पष्ट हैं। एक यह कि अधिनायकत्व शोषितो का हो, पार्टी का नही, और दूसरे यह कि ज्यो ही उद्देश्य पूरा हुआ अधिनायकत्व का अन्त होना चाहिए। पालिसी स्टेटमेंट मे यह बात साफ है। यदि नए राज्य को भय हो और समाजवाद की स्थापना मे समाज के कुछ वर्ग रुकावट डालें और उसे विफल करने के लिए षड्यन्त्र करें तो अधिनायकत्व की आवश्यकता निर्विवाद हो जाती है।

अब मैं साथी के प्रश्नो का उत्तर दूगा। मद्रास सम्मेलन मे मन्त्री जी ने केवल इतना कहा था कि 'जनतान्त्रिक समाजवाद' पार्टी का मूल आधार है। इसे सब सदस्यो को मानना चाहिए। जो इसे नही मानते उनको पार्टी में रहने का हक नही है। उनका यह कथन बिल्कुल सत्य है कि बुनियाद रोज-रोज नही बदलती। मैंने ऊपर दिखाने की कोशिश की है कि जनतान्त्रिक समाजवाद कोई नया विचार नही है। यही मार्क्स का कम्युनिज्म है। इससे इनकार कोई भी कम्युनिस्ट या सोशलिस्ट नही कर सकता। यह कहना कि 'जनतान्त्रिक समाजवाद' को नही मानता, यह कहने के बराबर है कि मैं सोशलिज्म-कम्युनिज्म को नही मानता। फिर ऐसे व्यक्ति को समाजवादी पार्टी में रहने का क्या हक है ? यदि सबको सब बातों की स्वतन्त्रता हो तो पार्टी बनाने की आवश्यकता ही क्या है ? यदि गाधीवादी अपना एक सघ बनावें और उनका कोई सदस्य यह चाहे कि सघ के उद्देश्य-पत्र मे से अहिंसा को निकाल देना चाहिये तो वह सघ का सदस्य कैसे रह सकता है ? यदि कोई नियन्त्रण न हो तो यह भी प्रस्ताव किया जा सकता है कि पार्टी का उद्देश्य 'बुर्जुआ डेमोक्रैटिक रिवोल्यूशन'

होना चाहिए। कम्युनिस्ट पार्टी मे सेन्ट्रलिज्म का सिद्धात माना जाता है अर्थात् वाद विवाद के बाद बहुमत से जो निर्णय हो वह सबको मान्य होता है। समाजवादी पार्टी मे केवल उद्देश्य मानने के लिए ही बाध्य किया जाता है। यह इसलिए है जिससे समाजवाद का रूप आगे चल कर विकृत न हो जावे। किन्तु अन्य सब बातो मे वहस हो सकती है। पार्टी के प्रस्तावो को मानने के लिए सदस्य बाध्य नही है। उनके बारे मे, अनुशासन की रक्षा करते हुए, बताये हुए ढग से सदस्य अपना मतभेद भी प्रकट कर सकते हैं। मन्त्रीजी ने सम्मेलन मे यहा तक कहा है कि जनतान्त्रिक प्रकार के बारे मे पार्टी मे मतभेद हो सकता है किन्तु जनतान्त्रिक समाजवाद के बारे मे नही हो सकता (अगरेजी, 'जनता' १६ जुलाई का अक)। इतनी स्वतन्त्रता तो शायद जरूरत से ज्यादा है। मैं समझता हू कि साथी के उठाये हुए सब प्रश्नो का मैंने उत्तर दे दिया है। मैं किसी प्रस्ताव-विशेष पर विचार करना नही चाहता। मैंने ऊपर कहा है कि सब प्रस्तावो को मानने के लिए सदस्य बाध्य नही है। यही पर्याप्त है।

साथी का यह भी कहना है कि अन्तिम सघर्ष का चित्र होना चाहिये। पार्टी ने सब स्थितियो का विचार कर लिया है और सबके लिये उचित उपाय का विधान किया है। पार्टी स्थिति के अनुसार अपना उपाय निश्चित करेगी। पालिसी स्टेटमेट मे जनतान्त्रिक प्रकार और क्राति पर भी विचार किया गया गया है; अधिनायकत्व का भी उल्लेख है। इससे अधिक निश्चित बात नही कही जा सकती। जब तक रूसी क्राति नही हुई थी तब तक लेनिन आदि नेता बुर्जुआ जनतान्त्रिक क्राति की ही बात सोचते रहे। किन्तु समय आने पर उस विचार का उन्हें परित्याग करना पड़ा और समाजवादी क्राति की ओर अग्रसर होना पडा। हमारे देश के कम्युनिस्ट भाई तो आज का चित्र नही स्थिर कर पाते। आए दिन अपनी नीति बदलते रहते हैं। जिस नीति को ३ वर्ष हुए अपनाया था वह हानिकर सिद्ध हुई। अत उसे छोडना पडा। अन्तिम चित्र की बात निश्चित रूप से करना आज की तेजी से बदलती हुई दुनिया मे तो और भी कठिन है। २, ३ चित्र सामने रखने पडते हैं। हमारे देश के इतिहास मे आने वाले २, ३ वर्ष मार्के के हैं। इस समय कोई क्राति का वातावरण नही है। लोग निरुत्साहित हो गये हैं, राजनीति से ऊब गये हैं, विश्वास उठ गया है। हा, यदि ससार मे कोई विलक्षण घटना हो जाय

तो कुछ कहा नही जा सकता, पल भर मे स्थिति बदल सकती है। ऐसे समय मे वर्ग-संघर्ष द्वारा वर्ग-संस्थाओ को पुष्ट करना तथा कार्य-कर्त्ताओ को कुशल बनाना हमारा मुख्य काम होना चाहिये। किसी क्रांति या आन्दोलन की सच्ची बुनियाद यही है। अपने देश की अवस्था का अध्ययन कर उसके अनुरूप समर्थ और प्रभावशाली उपायो का अनुसरण करना बुद्धिमानी है। दूसरो का अनुभव उपाय निश्चित करने मे सहायक हो सकता है किन्तु दूसरो का अनुकरण करने से हमारा कल्याण नही हो सकता।

३

पश्चिमी योरप के देशो मे राष्ट्रीयता के साथ-साथ जनतन्त्र और उद्योगवाद का जन्म हुआ था। यह राष्ट्रीयता ससार के लिए एक नई वस्तु थी। राज्य और शासनतत्र के स्थान मे इसने राष्ट्र और जनता की प्रतिष्ठा की। जब तक जनता का प्रभुत्व स्थापित नही हुआ अर्थात् जब तक राजा और प्रजा का सम्बन्ध बदला नही तब तक आधुनिक युग की राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा न हो सकी। यह राष्ट्रीयता व्यक्ति के मूल्य और मानवता की एकता मे विश्वास करती थी। स्वतन्त्रता इस का बीजमत्र था। इसने जनता का ध्यान राजदरबारो से हटाकर जनता के जीवन, उसकी भाषा और कला पर केन्द्रित किया। यह प्राचीन परम्परा से नाता तोडने को उद्यत रहती थी। धर्म के नाम पर योरप मे जो रक्तपात और विकराल युद्ध हुए उनसे लोग ऊब गये थे। वह इसको पसन्द नही करते थे कि धर्म राज्य और राजनीतिक तथा सामाजिक जीवन पर प्रभाव डाले। वह धर्म को व्यक्तिगत वस्तु मानते थे। इस रूप मे वह उनको सुरक्षित रखने को तैयार थे। किन्तु वह इसका विरोध करते थे कि धर्म समस्त जीवन पर छा जावे और जीवन के प्रत्येक विभाग के लिये आदेश निकाले तथा सिद्धान्त निरूपित करे। वह चाहते थे कि जनसाधारण को जो प्रेरणा प्राचीनकाल मे धर्म से मिलती थी वह नए युग मे राष्ट्रीयता से मिले।

राष्ट्रीयता की प्रतिष्ठा एक दिन मे नही हो गई। उसका मूल अतीत मे था। जिन देशो में यह जन्मी, उनमे राजनीतिक तथा आर्थिक विकास बहुत समय से हो रहे थे और उन अवस्थाओ का धीरे-धीरे परिपाक हो रहा था जिनके कारण राष्ट्रीयता उत्पन्न हो सकी। फ्रास की राज्य क्रान्ति इस आन्दोलन का आविर्भाव

थी और उसके बाद योरप के सब देशो मे धीरे-धीरे राष्ट्रीयता का विकास होने लगा। पश्चिमी योरप मे आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन भी साथ-साथ हुए और इन पर राष्ट्रीयता का अधिक प्रभाव पडा। किन्तु जब एक विचार एक देश मे सफल होता है और नई अर्थनीति तथा राजनीति मे परिणत होता है तब अन्य देशो मे स्थिति के परिपक्व न होने पर भी वह विचार फैलने लगता है। और यदि वहा का राजनीतिक जीवन क्षीण होता है और अर्थनीति नही बदलती तो इस राष्ट्रीयता का प्रकाश प्रधान रूप से सास्कृतिक क्षेत्र मे होता है। जर्मनी, इटली, तथा पूर्वी योरप के अन्य देशो मे ऐसा ही हुआ। वहा नया राज्य तो था नही, इस कारण लोकगीत, पुरातन इतिहास तथा साहित्य मे इस भावना का प्रथम आविर्भाव हुआ। आगे चलकर जब जनता की राजनीतिक और सास्कृतिक जागृति हुई तब इस सास्कृतिक राष्ट्रीयता ने राष्ट्र के आधार पर राज्य के निर्माण की उत्कट अभिलाषा उत्पन्न की। जर्मनी मे पश्चिम के आन्दोलन का जो प्रभाव पडा वह आरम्भ मे साहित्यिक और बौद्धिक आन्दोलनो तक ही सीमित रहा। उसने राजनीतिक और सामाजिक जीवन को बदलने की इच्छा नही उत्पन्न की। आरम्भ मे जर्मन लोगो ने राजनीति को शासको के लिए ही छोड रखा था और राजाओ की आज्ञा का पालन करना वह प्रजा का कर्तव्य समझते थे। जर्मनी के बडे-बडे लेखक राष्ट्रीयता और पितृभूमि के विचारो से अपरिचित थे। एक बार गेटे ने कहा था कि जो व्यक्ति पक्षपात और आग्रह के बिना विचार कर सकता है और अपने समय से ऊपर उठ सकता है उसकी पितृभूमि कही भी नही है और सर्वत्र है। वह सभ्यता के शाश्वत मूल्यो की खोज मे लगा था। उसने राष्ट्रीयता का सदा प्रत्याख्यान किया। उसका मत था कि राष्ट्रीयता का अभाव और व्यक्तिवाद जर्मनो के लाभ के लिये है। वह अतीत का पुनरुज्जीवन नही करना चाहता था। वह कहा करता था कि मैं प्रार्थना करता हू कि जर्मन लोगो मे देशभक्ति का भाव न उत्पन्न हो। फ्रास के लिये उसके मन मे बडा आदर था। पेरिस को वह ससार का प्रधान नगर मानता था। शिलर का कहना था कि जर्मनी का मिशन आध्यात्मिक और सास्कृतिक क्षेत्र मे है, राजनीतिक क्षेत्र मे नही। उसके समय मे जर्मनी मे राष्ट्रीयता का विकास हो रहा था किन्तु उसने यही कहा कि तुम व्यर्थ आशा करते हो कि तुम एक राष्ट्र हो जाओगे, इसके स्थान मे तुम स्वतन्त्र मनुष्य बनो। शिलर का

कहना था कि जर्मनी का बडप्पन राज्य-विस्तार मे नही है किन्तु तर्क और युक्ति की स्वतन्त्रता पाने मे और पक्षपात पर विजय पाने मे है। शिलर मानवता की एकता और व्यक्ति की उत्कृष्टता का महत्व देता था। राज्य और राजनीतिक जीवन का उसके लिए कोई महत्व न था। काण्ट का कहना था कि मनुष्य के सामने सबसे बडा सवाल एक विश्वव्यापी व्यवस्था के कायम करने का है जिसका आधार एक ही क़ानून हो। इसके लिये काण्ट के अनुसार सब राज्यो का सगठन सब नागरिको की स्वतन्त्रता और समानता के सिद्धान्त पर होना चाहिये। वह राष्ट्र की अपेक्षा एक विश्वव्यापी व्यवस्था पर ज्यादा जोर देता था। हर्डर ने जर्मनी मे राष्ट्रीयता के विचार को विशेष रूप से फैलाया। किन्तु उसका भाव अराजनीतिक था। सामान्य जन और उनकी भाषा उसकी राष्ट्रीयता के हृदय थे। वह राज्य को कृत्रिम और आगन्तुक मानता था और इसके विपरीत राष्ट्रीयता को स्वाभाविक और मौलिक। वह प्रकृति और इतिहास को विकासशील मानता था। उसके अनुसार—एक सृजनशक्ति सकल विश्व को व्याप्त करती है। यही शक्ति जीवन में अनेक रूपो मे आविर्भूत होती है। यह क्रम अनन्त है। लोकगति इसी शक्ति का आविर्भाव है। बडे-बडे कलाकार और लेखको की कृति से यह किसी प्रकार कम नही है। जनता का अपना व्यक्तित्व होता है जो अनेक रूपो मे विकसित होता है। यह एक दूसरे से भिन्न है तथापि एक ही शक्ति की कृति है। हर्डर राष्ट्रीय जन समाज को मानवता और व्यक्ति के बीच की कडी मानता था, किन्तु यह समाज राजनीतिक न होकर सास्कृतिक और आध्यात्मिक था। हर्डर का मत था—मानव सभ्यता राष्ट्रीय आविर्भावो मे व्यक्त होती है। सास्कृतिक आविर्भाव मौलिक होता है। किन्तु यह मौलिकता राष्ट्रीय समाज और भाषा विशेष के कारण होती है। राष्ट्र, देश, काल तथा स्वभाव के अनुसार एक दूसरे से भिन्न होते हैं, प्रत्येक का अपना मापदण्ड होता है। प्रत्येक राष्ट्र अपने ही ढग से प्रसन्न हो सकता है। हर्डर की दृष्टि मे प्रत्येक राष्ट्र पवित्र है और दैवी शक्ति का आविर्भाव है, अत उसकी रक्षा होनी चाहिये। वह सब राष्ट्रो को समान रूप से पवित्र मानता था और सबका समान रूप से आदर करता था। वह मानता था कि राष्ट्र एक दूसरे के परिपूरक हैं, मानवता ही हमारे प्रयत्नो का उद्देश्य है और वही हमारा पथ-प्रदर्शक है। वह राष्ट्रीय गर्व का तिरस्कार करता था।

फ्रांस की राज्यक्रांति ने राष्ट्रीयता के राजनीतिक स्वरूप को जर्मनी के सम्मुख रखा और धीरे-धीरे दोनो विचार घुल-मिल गये और इनसे जर्मनी को एक नई प्रेरणा मिली। स्लाव जाति पर भी इन विचारो का बड़ा प्रभाव पडा और इतिहास बताता है कि १९वी शती मे राष्ट्रीयता की सारे योरप मे विजय हुई।

औद्योगिक युग मे साम्राज्यो का सगठन हुआ और धीरे-धीरे एशिया और अफीका के अनेक देश योरप के अधीन हो गये। योरपीय पूंजीवाद का प्रभुत्व सारे ससार पर स्थापित हो गया। यह देश भी योरप की विचार-धारा मे प्रभावित होने लगे। योरपीय शासन के साथ-साथ योरप का साहित्य और विज्ञान भी आया। भारत मे अग्रेजी राज १९वी शती मे स्थापित हुआ। मुगल साम्राज्य के छिन्न-भिन्न होने पर मराठे और सिक्खो ने अपने-अपने राज्य स्थापित किये। किन्तु अन्त मे अग्रेजो ने इनका ध्वस किया और सारे देश को हस्तगत कर लिया। आरम्भ मे ईस्ट इण्डिया कम्पनी भारतीय जीवन मे हस्तक्षेप नही करती थी। उसने केवल जमीन की व्यवस्था मे अदल-बदल किया था। वह पादरियो को ईसाई धर्म का प्रचार भी नहीं करने देती थी। जो अग्रेज यहाँ आते थे वह जायदाद भी नही खरीद सकते थे और यहा बस नही सकते थे। मौलवी और पडित मुकदमो का फैसला करते थे और कम्पनी की ओर से सस्कृत, अरबी और फारसी की शिक्षा दी जाती थी। कम्पनी के अधिकारी डरते थे कि यहाँ के सामाजिक जीवन मे हस्तक्षेप करने से विद्रोह हो जायेगा। किन्तु लार्ड बेंटिक के समय से राज-काज की भाषा अग्रेजी हो गई। पादरियों को ईसाई धर्म का प्रचार करने की स्वतन्त्रता मिल गई और अग्रेजी की शिक्षा की व्यवस्था की गई। पश्चिमी विज्ञान और अग्रेजी साहित्य का प्रभाव शिक्षित वर्ग पर पडने लगा और वे इगलैड की राजनीतिक सस्थाओ और विचारधारा से परिचित होने लगे। हम ऊपर कह चुके हैं कि १९वी शती मे राष्ट्रीयता का राजनीतिक भाव सारे योरप मे फैल चुका था। यद्यपि भारत मे विदेशियो का राज्य था और समाज मे जातियो का तारतम्य था तथापि पश्चिम की राष्ट्रीयता अग्रेजी शिक्षित वर्ग को आकृष्ट करने लगी। साथ-साथ जनतत्र का भाव भी इस वर्ग मे फैलने लगा। इस शती मे इटली की स्वाधीनता का प्रश्न एक जीवित प्रश्न था और मैजिनी की राष्ट्रीयता भारतीयो

को प्रभावित कर रही थी। १९वी शती मे अग्रेजी शिक्षा का आरम्भ होने से राष्ट्रीयता का राजनीतिक रूप भारतीयो के सामने आया। यहा जर्मनो की तरह राज्य और राष्ट्रीयता एक दूसरे से पृथक नही रहे। पश्चिमी सभ्यता के सम्पर्क से यहा राजनीतिक सामाजिक और धार्मिक आदोलनो का उपक्रम हुआ। उसके पूर्व यहा अन्धकार का युग था। मराठा और सिक्ख इसी साम्राज्य के कारण टिक न सके। मध्य युग मे यहा सन्त अनेक हुए जिन्होंने एक उदार धर्म का प्रचार किया। सन्तो और सूफियो ने हिन्दू-मुसलमानो को इस उदार धर्म के आधार पर मिलाने की चेष्टा की। कई सन्त छोटी जातियो मे हुए और उन्होने उदार धर्म की शिक्षा दी। दरबार ने कला और स्थापत्य को प्रोत्साहन दिया और उसके प्रश्रय मे अनेक विद्वान हुए। किन्तु कोई बौद्धिक आन्दोलन नही हुआ। भारत मे कोयला और लोहा एक ही क्षेत्र मे होता था। व्यापार भी अच्छा था जिसके कारण पूंजी एकत्र हो गई थी। कुशल कारीगर भी थे। किन्तु शिक्षा का क्षेत्र छूंछा होने के कारण विज्ञान की प्रतिष्ठा नही हुई और इसलिये आविष्कार तथा गवेषणा के लिये प्रेरणा नही हुई।

यदि यहाँ कोई बौद्धिक आन्दोलन हुआ होता तो सम्भव था कि भारत मे भी औद्योगिक क्रान्ति हुई होती। किन्तु यहाँ उस समय लोगो मे किसी प्रकार की जिज्ञासा या प्रेरणा न थी। अपने अतीत का ही ज्ञान न था। किन्तु यह गर्व अवश्य था कि हम से बडा कोई नही है। ऐसे वातावरण मे प्रेरणा कहाँ से मिलती ? जब हम पश्चिमी विज्ञान और सस्थाओ के सम्पर्क मे आये तभी नवजागरण का युग आरम्भ हुआ। यह शिक्षा थोडे ही लोगो मे सीमित थी, किन्तु नये आन्दोलनो की सृष्टि करने मे समर्थ हुई। ब्रह्मसमाज, देवसमाज और प्रार्थना-समाज इसी के फल थे। यद्यपि आर्य समाज के जन्मदाता पर पश्चिमी सभ्यता का प्रभाव नही पडा था तथापि आर्य समाज के विकास मे अनेक अग्रेजी शिक्षित भारतीयो का हाथ रहा है। स्वामी विवेकानन्द भी पश्चिमी विचारधारा से बहुत प्रभावित हुए थे। उन्होने एक बार कहा था कि शरीर पश्चिम का हो और आत्मा भारत की हो। समाज-सुधार के भी कई आन्दोलनो का सूत्रपात हुआ। विविध प्रान्तीय भाषाओ मे गद्य साहित्य की रचना हुई और पश्चिम के साहित्य का प्रभाव पडने लगा। अग्रेजो के आने के पूर्व प्रान्तीय भाषाओ मे अधिकतर पुराना काव्य था, नाटक, उपन्यास,

निबन्ध आदि का एक प्रकार से अभाव था। मिशनरियो ने ही पहले पहल देशी भाषाओ मे गद्य रचना के निर्माण की ओर ध्यान दिया। ब्रिटिश काल मे ही देशी भाषाएँ समृद्ध हुई है। पुराने इतिहास की खोज का काम भी योरपीय विद्वानो ने आरम्भ किया और उन्ही के परिश्रम से हमारा पुराना इतिहास लिखा जा सका। इसने भी राष्ट्रीय भाव को सबल बनाने मे सहायता की।

इगलैंड की राजनीतिक सस्थाओ का शिक्षित वर्ग पर बडा प्रभाव पडा। स्वतत्रता और जनतन्त्र के भावो ने उनकी दृष्टि बदल दी। उनका यह ईमानदारी के साथ विश्वास था कि अग्रेज हमारे लाभ के लिये यहाँ आये है और जब हम अपने मे शासन की योग्यता पैदा कर लेंगे तब वह खुशी-खुशी हम को शासन सौंप कर चले जावेंगे। वह जानते थे कि हममे कितनी कमियाँ है और वह उनको दूर करना चाहते थे। उनमे मिथ्या गर्व न था। उलटे उनमे अपनी गिरी अवस्था को देखकर आत्मावसाद उत्पन्न हो गया था। उनके लेखो को पढें तो हम उनमे उदार विचार पावेंगे। मनुष्य जाति की उन्नति मे उनको विश्वास था और वह समानता के आधार पर समाज का पुन सगठन करना चाहते थे। उनकी दृष्टि आधुनिक थी और वह सामाजिक कुरीतियों को दूर करना चाहते थे। कांग्रेस के पुराने नेता प्राय समाज-सुधार के कार्यों मे भी दिलचस्पी रखते थे। वह प्रगतिशील थे, यद्यपि उनके राजनीतिक विचार दकियानूसी थे। इसका कारण यह था कि उनका अग्रेजो के शुभ मन्तव्यो मे विश्वास था और वह यह भी समझते थे कि हम उनसे लड-कर कुछ पा नही सकते। १९वी शती मे एशियावासियो ने आत्मविश्वास खो दिया था और योरप की शक्ति का मुकाबला करना वह असम्भव समझते थे। किन्तु साथ-साथ उस पीढी के भारतीय नेता प्राय. उदार दृष्टि के थे और योरप के बौद्धिक आन्दोलनो के सम्पर्क मे रहते थे।

सन् १८५७ मे जो सिपाही विद्रोह हुआ उसके साथ इनकी सहानुभूति नही थी। सामान्यत जनता ने भी उस विद्रोह मे भाग नही लिया था। उसका नेतृत्व मुगल बादशाह, कतिपय राजा और सैनिक करते थे। यदि वह विद्रोह सफल होता तो इसकी आशा हम नही कर सकते थे कि वह जनतन्त्र की स्थापना करता। उसके आधार मे स्वतत्रता और समानता के नये भाव नही

थे। वह किसी जन-आन्दोलन के आधार पर सगठित नही हुआ था। अत वह राज्य प्रगतिशील नही हो सकता था, और इसलिये वह उस युग मे टिकाऊ न होता, किसी न किसी साम्राज्यवादी राष्ट्र की अधीनता मे भारत फिर आ जाता।

सन १९०३-४ मे जब जापान ने रूस को पराजित किया तब एशिया के सब देशों में जागृति के चिन्ह दिखाई देने लगे। जापान की विजय ने इनमे एक नया उत्साह फूंका। भारत मे भी जापान की विजय का गहरा प्रभाव पडा और खोया हुआ आत्मविश्वास वापस आने लगा। भारत की राजनीति बदलने लगी और कांग्रेस मे दो दल हो गये। नया दल राजनीति मे उग्र था किन्तु सामाजिक क्षेत्र मे कदाचित उतना प्रगतिशील न था। भारत के गौरव का इतिहास इस समय लिखा जा रहा था। पुनरुज्जीवन के आन्दोलनो की भी सृष्टि हुई। नये दल के नेता इसलिये भी पूर्ण स्वतत्रता चाहते थे जिसमें वह देश की पुरानी सस्कृति को फिर से जिन्दा कर सकें। इन्होने राजनीतिक आन्दोलन को सबसे अधिक महत्व दिया। सामाजिक आन्दोलनो की इन्होने प्राय उपेक्षा की। जब गाधी जी का युग आया तब सामाजिक कुरीतियो को दूर करने का फ़िर से प्रयत्न कांग्रेस जन की ओर से आरम्भ हुआ। गाधी जी का उद्देश्य व्यापक था। इसीलिये उनके कार्यक्रम में अछूतोद्धार और रचनात्मक कार्य को स्थान दिया गया था। वह स्वतन्त्रता के साथ-साथ समानता का भी प्रचार करते थे और कांग्रेस के विधान को जनतान्त्रिक बनाकर उन्होने जनता मे जनतत्र का भी प्रचार किया। उन्होने एक विराट आन्दोलन का सूत्रपात किया। इसके अनेक पहलू थे। इसके कारण जनता मे अपूर्व जागृति हुई। इसने जात-पांत के बन्धन को ढीला किया और अस्पृश्यता निवारण के काम को आगे बढाया।

जनता मे स्वतन्त्रता के साथ-साथ समानता का भाव भी फैलने लगा और राष्ट्रीय आन्दोलन मे बहुसख्यक लोग यह आशा लेकर सम्मिलित होने लगे। किन्तु यह मानना पडेगा कि गाधीजी ने राजनीति के साथ धर्म को मिलाया और इस प्रकार पुनरुज्जीवन के आन्दोलन को एक प्रकार का सहारा दिया। उनके प्रभाव के कारण लोग सब बातो मे स्वदेशी होने लगे और पश्चिम के नये आन्दोलनो से सम्पर्क बहुत कम हो गया। एक राष्ट्रकर्मी के लिए यह

पर्याप्त समझा जाने लगा कि वह रचनात्मक कार्य करता है और देशकी स्वतन्त्रता के लिये सत्याग्रह के आन्दोलन मे भाग लेने को तैयार है। ससार के इतिहास तथा अर्थनीति अध्ययन करने की उसे कोई विशेष आवश्यकता नही थी।

यदि देश का बटवारा न हुआ होता तो स्वतन्त्र होने के पश्चात् भी यह प्रगतिशील आन्दोलन चलते रहते। मुसलमान अपने को एक पृथक राष्ट्र समझने लगे। राष्ट्रीयता की कोई एक व्याख्या नहीं है। अन्ततोगत्वा यह मानना पड़ता है कि यदि कोई समुदाय अपने को दूसरो से पृथक मानने लगे और अपनी एकता का तीव्र अनुभव करने लगे तो वह एक राष्ट्र का रूप धारण कर लेता है। भारत मे ऐसा ही हुआ। यह कहना ठीक नही होगा कि मुस्लिमलीग के साथ अधिकाश मुसलमान नही थे और जिन्नासाहब केवल अग्रेजो के एजेट थे। बटवारा जरूर देशके आधार पर, न कि धर्म के आधार पर हुआ; किन्तु पाकिस्तान आदोलन के मूल मे इस्लाम धर्म ही था, और यह भाव था कि हिन्दू और मुसलमान सब बातो मे एक दूसरे से भिन्न हैं। इसके कारण हिन्दू भाव भी प्रबल पड़ने लगा और साम्प्रदायिक राजनीतिक दल परिस्थिति मे लाभ उठाने लगे। जब हिन्दू और सिख पश्चिमी पजाब से निकाले गये तो इसके उत्तर मे यहा भी यह भाव फैलने लगा कि भारत मे मुसलमानो के लिए स्थान न होना चाहिए। भारत और पाकिस्तान के सम्बन्ध भी बिगडने लगे। कश्मीर मे आक्रमण ने मनमुटाव और भी बढा दिया। भारत के वह वर्ग, जिनका स्वतन्त्रता से नुकसान हुआ, ऐसे साम्प्रदायिक सगठनो के साथ हो लिए और उन्ही के कारण महात्मा जी की हत्या हुई। पाकिस्तान की स्थापना प्रतिगामी भावों पर आश्रित है। आज की दुनिया मे राज्य का आधार नस्ल और राष्ट्रीयता है, धर्म नही है। पर पाकिस्तान का विधान आलिमों की सलाह से बनाया जा रहा है। इसकी प्रतिक्रिया भारत पर भी होती है और इससे प्रतिगामी शक्तियो को प्रोत्साहन मिलता है। साधारण जन मुसलमानो को सदेह की दृष्टि से देखते हैं और समझते है कि वह अब भी हृदय से पाकिस्तान का समर्थन करते हैं। सकुचित विचार के लोग समझते है कि पाकिस्तान का मुकाबला उन्ही के हथियारो से होना चाहिए। वह भी हिन्दुस्तान को 'म्लेच्छो' से पाक करना चाहते है। ऐसे वातावरण मे प्रतिगामी विचार पनपने लगते हैं। प्रतिशोध की भावना इन विचारो को बल देती है।

यदि पाकिस्तान का आधार नही बदला और वहा के राज्य ने आधुनिक विचारो और मूल्यो को नही अपनाया तो पाकिस्तान सदा भारत की प्रगतिशील शक्तियो को चुनौती देता रहेगा और उसके कारण यहा भी उसी विचार के छोटे-बडे दल परेशान करते रहेगे। यदि भारत और पाकिस्तान के सबध अच्छे न हुए और वे एक दूसरे को सदेह की दृष्टि से देखते रहे तो एक अस्वाभाविक परिस्थिति बनी रहेगी। इसलिए समस्या का कोई स्थायी हल निकलना चाहिए। साम्प्रदायिकता और हिन्दू राष्ट्र का विचार समस्या को सुलझाने के बजाय उसे और जटिल कर देता है। यदि हिन्दू अपनी सकीर्णता को छोड दें और ऊच-नीच के भेद-भाव को दूर कर दें तो उनमे अपूर्व शक्ति उत्पन्न हो सकती है। इसके लिए यह भी आवश्यक है कि यह उदार भाव हिन्दुओ तक ही सीमित न रहे। पजाब मे आज मुसलमान नही है, किन्तु हिन्दू सिखों का साम्प्रदायिक सघर्ष चल रहा है। सामाजिक असमानता को दूर करना और मानव मात्र के लिए आदर का भाव रखना हिन्दुओ की ही उन्नति के लिए अति आवश्यक है। यदि हम अपने घर को सभालें, देश की आर्थिक समस्या को सुलझाएँ, देश के साधनो का विकास करें तथा राष्ट्रीयता और जनतत्र को पुष्ट करें जिसमे सब नागरिक समानता का अनुभव कर राष्ट्रनिष्ट बनें तो हम एक ऐसी शक्ति अपने मे पैदा करेंगे जो अमोघ कवच का काम देगी और विदेश मे भी हमारा सम्मान बढावेगी। उस अवस्था मे पाकिस्तान को विवश होकर स्थायी समझौता करना होगा।

हमको भूलना नही चाहिए कि राष्ट्रीयता और जनतन्त्र के भावो ने ही हमको स्वतन्त्रता दिलाई है। यदि हम किसी न किसी अश मे इन भावो को न अपनाते तो विभिन्न बिरादरी, धर्म और प्रान्त के लोग उसके लिये एक साथ मिलकर चेष्टा क्यो करते ? राष्ट्रीयता का अर्थ हिन्दू या मुस्लिम राष्ट्रीयता नही है। एक देश की भौगोलिक सीमा के भीतर रहने वाले विविध धर्म और बिरादरी के लोग जब अपनी विभिन्नता का अनुभव करते है तभी राष्ट्रीयता जन्म लेती है। यह दो भाव आज भी अपना काम कर रहे हैं। यह युग धर्म के अनुकूल है। अत अन्त मे इनकी विजय होगी। किन्तु हमारा समाज जात-पात मे बटा है, अस्पृश्यता अभी गई नही है और सम्प्रदायो का प्रभाव विद्यमान है। यह स्थिति समाज को विश्रृखल करने वाली है। इसके विरुद्ध लडना ही पडेगा।

यहां सामाजिक और आर्थिक दोहरी गुलामी है। केवल आर्थिक गुलामी पूरी तरह दूर नहीं होगी। चीन में जात-पात का बखेड़ा नहीं है, धर्म का प्रभाव बहुत कम है। एक ही कुटुम्ब में एक बौद्ध है तो एक ईसाई है। वहां धर्म समाज को छिन्न-भिन्न नहीं करता। हमारे यहां जाति की प्रथा के कारण जाति के आधार पर राजनीतिक दल बनते हैं। यह बात आप अन्यत्र नहीं पावेंगे। अत यहां सामाजिक असमानता को दूर करने की बड़ी जरूरत है। जनतन्त्र के भाव को पूरी तरह अपनाना होगा। यह नहीं समझना चाहिये कि व्यवस्थापिका सभाओं की स्थापना से जनतन्त्र की शिक्षा के द्वारा ही यह काम सम्पन्न होगा। आन्दोलनों की सृष्टि पंडितों के शास्त्रार्थ से नहीं किन्तु आदर्श तथा जीवन के उत्कृष्ट मूल्यों के आधार पर होती है। हमें जनता मे इन नए मूल्यों का प्रचार करना है। तभी जनतन्त्र की प्रतिष्ठा हो सकेगी। महात्मा जी के बलिदान ने हमारा ध्यान इस ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया है। उन्होंने बताया है कि यदि हम सावधान नहीं होंगे तो साम्प्रदायिक शक्तियां हमारी कमाई को नष्ट कर देंगी। यदि यह पनपने पाईं तो समाजवाद दूर की कथा है, सच्चा राष्ट्रवाद भी यहां नहीं कायम हो सकेगा। सच्चे राष्ट्रवाद का जनतन्त्र से घनिष्ट सम्बन्ध है। अतिराष्ट्र मानवता और व्यक्ति का लोप करके राज्य को ही सर्वेसर्वा बना देता है। ऐसा जर्मनी में नाजियों के शासन काल में हुआ। यहां तो सम्प्रदायों का संघर्ष चलता रहेगा और एक दूसरे से अलग रहने की प्रवृत्ति देश को छिन्न-भिन्न कर देगी।

c

ऊपर हमने यह दिखाने की कोशिश की है कि भारत की सामाजिक रचना और उसकी वर्तमान परिस्थिति को देखते हुए हमारा यह विशेष कर्तव्य है कि हम जनतन्त्र की स्थापना के लिये चेष्टा करें। यह ठीक है कि पूर्ण जनतन्त्र तो समाजवाद की प्रतिष्ठा पर ही हो सकता है, तथापि सम्प्रदायवाद को विनष्ट करने के लिए तत्काल कुछ करना होगा। इस दृष्टि से यदि देखा जाय तो लक्ष्य को जनतान्त्रिक समाजवाद कहने का औचित्य और भी स्पष्ट हो जायगा। हमने ऊपर इस विषय पर विस्तार से विचार किया है, और यह बताने की चेष्टा की है कि यह वही पुराना लक्ष्य है जो मार्क्स के सामने था। जनतन्त्र क्या है, इस पर भी हमने ऊपर प्रकाश डाला है और यह भी बताया

है कि उसका प्रचार और आन्दोलन शिक्षा द्वारा ही हो सकता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि पार्लियामेंटरी पद्धति अनावश्यक है।

आज कल क्रान्ति का नारा लगाने वाले सर्वत्र सुधारवाद की गन्ध पाते हैं। उसके लिए जनतंत्र भी सुधारवाद का एक अंग है। सांस्कृतिक आन्दोलन और रचनात्मक कार्यक्रम भी सुधारवादी है। वह भूल जाते है कि समाजवाद स्वयं एक सांस्कृतिक आन्दोलन है। यह सारी क्रान्तिकारी बुनियाद को ही देखते हैं, उस पर खड़ी होने वाली इमारत को नहीं देखते। रोजालुक्समवर्ग के शब्दों मे समाजवाद रोटी-मक्खन का सवाल नहीं है किन्तु एक विश्वव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन है। रोजालुक्समवर्ग को कोई सुधारवादी नहीं कहेगा। मैं राजस्थान के एक गांव मे यह लेख लिख रहा हूं। यहां मेरे पास मार्क्स के लेख और ग्रन्थ नहीं हैं, अन्यथा मै मार्क्स से उद्धरण देकर इसकी सत्यता को सिद्ध करता। मार्क्स ने एक स्थल पर कहा है कि मजदूर को मजदूरी की उतनी जरूरत नहीं है जितनी दृढता, साहस और शौर्य की। मजदूर यदि हड़ताल के सिलसिले मे अपनी छोटी-मोटी पूंजी भी खो देता है तो इसका कारण यह है कि वह एक उद्देश्य के लिए लड़ता है। महज पेट की खातिर लड़ने वाला कहां हड़ताल कर सकता है? मार्क्स तो मजदूर को इतिहास का उपकरण बनाना चाहता था। जब प्राचीन संस्कृति के नाम पर विचित्र बातें कही जाती हैं और की जाती हैं तो इस बात की और भी आवश्यकता है कि हम संस्कृति का विवेचन करें और बतावें कि हमारी भावी संस्कृति का क्या रूप होना चाहिये।

क्रान्ति लाल, पीली नहीं होती। समाज मे मौलिक परिवर्तन होना, राज्य-शक्ति का एक वर्ग के हाथ से निकल कर दूसरे वर्ग के हाथ मे जाना ही क्रांति है। पार्टी का लक्ष्य शोषण का अन्त कर ऐसे वर्ग विहीन समाज की रचना करना है जिसके सदस्य उत्पादक होते हैं और स्वतंत्र रीति मे एक दूसरे के साथ सहयोग कर समाज का संचालन करते हैं। इस समाज मे न कोई शासक है और न कोई शासित। इसी को जनतान्त्रिक समाजवाद कहते हैं, यह एक क्रान्तिकारी लक्ष्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए अनेक प्रयोग करने होते हैं। इनमें से कुछ मृदु और कुछ तीव्र होते हैं। रोज तीव्र प्रयोग नहीं होते। मृदु प्रयोगो द्वारा ही तीव्र प्रयोग के लिए तैयारी की जाती है। छोटे-छोटे

स्थानीय संघर्ष ही विराट संघर्ष के लिए भूमि तैयार करते है। क्रान्ति की शर्तें लेनिन ने बतायी है। ऊपर मैंने इनका जिक्र किया है। उस व्यवस्था को लाने के लिये बहुत समय तक अनेक प्रयोग करने होते है। क्रान्ति के अवसर बहुत कम ही आते हैं। कभी-कभी एक दो पीढी तक इन्तजार करना पड़ता है। क्रान्ति कोई हनुमान चालीसा नही है कि उसका नित्य पाठ किया जाय। क्रान्तिकारी लक्ष्य को सामने रखकर जो काम किया जाता है वह क्रान्ति को अग्रसर करता है। क्रान्ति की रक्षा के लिये कभी-कभी पीछे हटना पडता है। यह कदम भी क्रान्तिकारी कहलावेगा, प्रतिगामी नही। लेनिन ने क्रान्ति की रक्षा के लिए नई आर्थिक नीति को अपनाया था। यदि वह ऐसा न करता तो क्रान्ति की खैरियत न थी। समाजवादी की प्रत्येक चेष्टा, क्रिया, विचार और कल्पना लक्ष्य को केन्द्र मे रखकर होनी चाहिए।

कोई कार्य सुधारवादी है या क्रान्तिकारी, इसका निर्णय उस दृष्टि के आधार पर होता है, जिसको सामने रख कर वह कार्य किया जाता है। एक ही कार्य भिन्न-भिन्न लोग अलग-अलग दृष्टि से करते हैं। किसी रचनात्मक कार्य को ले लीजिये। उदाहरण के लिये हम नहर खोदने के काम को लेते है। यदि किसी गाव के लोग देखते है कि गवर्नमेंट उनकी माग की उपेक्षा करती है और इसलिये स्वय अपने कष्ट को दूर करने के लिये वह सहयोग करके नहर खोदते है तो यह सुधार का कार्य है इसका यह अर्थ नही है कि यह कोई बुरा काम है। इसके विपरीत यह एक अच्छा काम है। सबको इसमे सहयोग देना चाहिए। किन्तु जब यह रचनात्मक कार्य समाजवादी कार्यक्रम का अग बन जाता है तो समाजवादी का उद्देश्य कष्ट निवारण के साथ-साथ और भी गूढ होता है। वह देखता है कि लोगो मे सहयोग की भावना नही है, वह मिल-जुलकर अपना काम करने के अभ्यस्त नही हैं, वह परमुखापेक्षी हो गये हैं और निराशा और निरुत्साह के शिकार हो रहे हैं। इस स्थिति को बदलने के लिये और यह बताने के लिये कि जब वर्गविहीन समाज होगा तो एक साथ मिलकर काम करना होगा, वह रचनात्मक कार्य हाथ मे लेता है। वही काम क्रान्ति को अग्रसर करने मे सहायक हो जाता है। यदि मजदूर की मजदूरी बढाने और काम के घटे कम करने की दृष्टि से ही मजदूरो मे काम होता है तो यह सुधारवादी कार्य है, किन्तु यदि यह काम इस दृष्टि से होता

है कि इसी तरह मजदूरो को जागरूक और श्रेणी सजग बनाकर उनको इतिहास-निर्दिष्ट कार्य का उपयुक्त उपकरण बनाया जा सकेगा तो वही काम होता है वही क्रान्तिकारी है।

सच्चा समाजवादी कार्यकर्त्ता वही है जो अपने स्थान पर सब प्रगतिशील विचारो और कार्यों का केन्द्र बन जाता है। यदि उसके गाव या नगर मे साक्षरता का आन्दोलन होता है तो वह उसमे आगे है, यदि कोई सघर्ष होता है तो वह उसका नेतृत्व करता है। यदि हम प्रत्येक कार्य का यह कह कर तिरस्कार करेंगे कि यह सुधारवादी है और क्रान्ति के आसरे बैठे रहेंगे तो हमारे लिये क्रान्ति की घडी नही आवेगी। यह कहना कि इन कामो को हाथ मे लेने से चित्तविक्षेप होता है और हमारे मुख्य कार्य-वर्ग-सघर्ष की क्षति पहुचती है, भूल है। वर्ग-सघर्ष को मध्यबिन्दु बना करके ही सारे काम होते है। रोज वर्ग-सघर्ष भी तो नही हो सकता। उसके लिये भी तैयारी करनी होती है। हमको भूलना नहीं चाहिये कि वर्ग-सघर्ष के साथ-साथ हमको अनेक कार्य ऐसे करने होगे जो ध्येय से अलग करके देखने मे सुधारवादी मालूम होगे, किन्तु समाजवादी का कोई कार्य ध्येय से अलग कैसे किया जा सकता है? ध्येय की प्राप्ति के मार्ग मे समय समय पर जो विघ्न-बाधाए आती रहे उनका भी मुकाबला करना होगा। सम्प्रदायवाद हमारे मार्ग मे सबसे बडी अडचन है। यदि सम्प्रदायवाद प्रबल पड गया तो क्रान्ति की भ्रूणहत्या ही होगी। यह कह कर हम कैसे उसकी उपेक्षा कर सकते है कि सम्प्रदायवाद से लडना तो कोई वर्गसघर्ष है नही। और यदि सम्प्रदायवाद से लडना है तो इसके अस्त्र राष्ट्रवाद और जनतत्र है। अपने देश मे इनका प्रयोग किये बिना गति नही है। जो ठोस क्रान्तिकारी है उनकी दृष्टि पैनी और व्यापक होती है। कोई भी अच्छा काम उनके लिये त्याज्य नही है यदि वह ध्येय की पूर्ति मे सहायक है। लोक-शिक्षा के जितने काम हैं वह सब सहायक है। उसका कार्यक्रम फारमूलो और नारो का नही होता। वह लोकोपयोगी सब कामो मे आगे रहता है किन्तु ध्येय को सदा सामने रखता है और वर्ग-सघर्ष को अपना मुख्य अस्त्र समझता है। उसकी क्रान्ति दूध के उफान की तरह नही है जो पानी का छींटा पडते ही तुरन्त शान्त हो जाता है।

संस्कृत वाङ्मय का महत्व और उसकी शिक्षा

आचार्य नरेन्द्रदेव

भारतीय और प्रतीच्य विद्वानो के सहयोग से सस्कृत वाङ्मय का उद्धार हो रहा है। इस शुभ कार्य का श्रीगणेश यूरोपीय विद्वानो ने किया था। किन्तु गत ३० वर्षो मे भारतीय विद्वानो ने अपूर्व उत्साह और लगन से अन्वेषण और शोध के कार्य मे विशिष्ट भाग लिया है। राजनीतिक चेतना के साथ-साथ राष्ट्रीय आधार पर सास्कृतिक जीवन को आश्रित करने का भी प्रयत्न किया गया है। प्राचीन इतिहास और सस्कृति के अध्ययन मे विशेष अभिरुचि उत्पन्न हो गयी है और भारतीय विद्वानो ने पाश्चात्य शिक्षा द्वारा अन्वेषण की वैज्ञानिक पद्धति को सीखकर साहित्य, भाषा, धर्म तथा सामाजिक सस्थाओ का अध्ययन किया है।

आज भी इस कार्य मे यूरोपीय विद्वान अपना दान दे रहे है। किन्तु इसमे सन्देह नही कि स्वतन्त्र होने पर हमारा उत्तरदायित्व बहुत बढ गया है। हमारा कर्तव्य है कि सस्कृत विद्या के अध्ययन को हम पाठ्यक्रम मे विशिष्ट स्थान दें और अन्वेपण के कार्य को प्रोत्साहन दें। आधुनिक युग के दो महापुरुषो के कारण तथा अपनी प्राचीन सस्कृति के कारण हमारा ससार मे आदर है। यह खेद का विषय होगा यदि हम इस आवश्यक कर्तव्य की ओर उचित ध्यान न दें और सस्कृत वाङ्मय की रक्षा और वृद्धि के प्रति उदासीनता दिखावें। सस्कृत वाङ्मय आदर और गौरव की वस्तु है और उसका विस्तार और गाम्भीर्य हमे चकित कर देता है। हमको उसका उचित गर्व होना चाहिए। सस्कृत ससार की सबसे प्राचीन आर्य भाषा है जिसका वाङ्मय आज भी विद्यमान है। ऋगवेद हमारा सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। रामायण और महाभारत ससार के अनुपम और बेजोड काव्य है। यही हमारी सस्कृति की मूलभित्ति है। अनेक नाटक और काव्यो की सामग्री इन्ही ग्रन्थो से उपलब्ध हुई है।

महाभारत वेद के समान पवित्र माना जाता है। (इतिहास पुराण पचम वेदाना वेदम्) महाभारत हमारी प्राचीन सस्कृति का भण्डार है। इसमे प्राचीन आचार-विचार, रीति-नीति, आदर्श और सस्थाओ का इतिहास उपनिबद्ध है। यह दर्पण के समान है जिसमे प्राचीन भारत का जीवन प्रतिबिम्बित होता है। काल की दृष्टि से रामायण एक उत्कृष्ट ग्रथ है। इसलिए वाल्मीकि को आदि कवि कहते हैं। इसमे माधुर्य और प्रसाद गुण हैं और यह उत्तम काव्य का प्रतिमान समझा जाता है।

इसी कारण रामायण और महाभारत के अनेक सस्करण हैं। रामोपाख्यान यवद्वीप, बाली द्वीप, सुमात्रा, कम्बोडिया, चम्पा, स्याम, चीन और तिब्बत मे प्रचलित था। यव द्वीप की रामायण के कुछ अश भट्टिकाव्य का अनुवाद है और कुछ अश उसके आधार पर लिखे गये हैं। तिब्बत मे जो रामायण का सस्करण प्राप्त हुआ है उसकी कथा रामायणी कथा से भिन्न है। जैनियो मे भी रामायण के दो सस्करण हैं—एक वाल्मीकि का अनुसरण करता है, दूसरा बौद्ध कथा से प्रभावित है। इसी प्रकार महाभारत की कथा भी किसी न किसी रूप मे बृहत्तर भारत के कई देशो मे प्रचलित थी। भारतीय भाषाओ ने तुलनात्मक भाषा-विज्ञान को जन्म दिया है। व्याकरण शास्त्र भी इस देश मे चरम विकास को पहुचा है। रूसी विद्वान श्चेरबात्स्की के शब्दो मे पाणिनि की अष्टाध्यायी मानवी बुद्धि की सर्वश्रेष्ठ कृतियो मे से है।

उपनिषदो की विचार-धारा और साधना ससार के अलभ्य रत्नो मे से है। भारत मे जिन विशिष्ट-विचारधाराओ ने जन्म लिया है उन सबका मूल स्थान उपनिषदो मे है। उपनिषद् के वाक्यो मे गाम्भीर्य, मौलिकता और उत्कर्ष पाया जाता है और वह प्रशस्त, पुनीत और उदात्त भाव से व्याप्त है। मैक्स-मूलर का कथन है कि उपनिषद् प्रभात के प्रकाश और पर्वतो की शुद्ध वायु के समान है। जिस प्रकार जब हिमानी से पुण्य सलिला भगवती भागीरथी उद्गत होकर पर्वतमाला मे घूमती हुई प्रवाहित होती है और एक क्षण के लिए ऐसी प्रतीति होती है मानो सकल वासना का क्षय हो गया हो, सकल शरीर प्रीति रस से आप्लुप्त और सकल चित्त कुशल चेतना की भावना से वासित और व्याप्त हो गया हो, उसी प्रकार उपनिषत्वाक्यो मे अवगाहन कर एक नया चैतन्य और एक नयी प्रेरणा मिलती है। यह वाक्य कभी बासी नही

होते, कभी पुराने नही पडते । यह सदा नूतन और सदा नवीन है । उपनिषद् वह स्तम्भ है जिस पर प्रतिष्ठित संस्कृत विद्या और भारतीय संस्कृति का दीपक सदा प्रकाश देता रहता है । यही हमारी अचल निधि है, यही हमारा जयस्तम्भ है ।

संस्कृत वाङ्मय की व्यापकता भी अद्भुत है । इसके अन्तर्गत अनेक शास्त्र और विद्याए है । इसकी धारा अविच्छिन्न रही है । संस्कृत वाङ्मय मे मैं पालि और प्राकृत का भी समावेश करता हू । एक समय था कि जब संस्कृत का विशाल क्षेत्र था । मध्य एशिया से लेकर दक्षिण पूर्व एशिया के द्वीपो तक संस्कृत का अखण्ड राज्य था । उस समय विविध सम्प्रदायो के विद्वान संस्कृत मे ही ग्रन्थ रचना करते थे और शास्त्रार्थ भी संस्कृत मे होता था । इस विशाल क्षेत्र पर भारतीय संस्कृति का अपूर्व प्रभाव पडा था । यवद्वीप का प्राचीन साहित्य संस्कृत पर आश्रित था और स्याम, लंका, मलय, जावा, हिन्दचीन आदि की भाषाओ पर संस्कृत का प्रभाव आज भी स्पष्ट है । इसी काल मे भारतीयो ने इन द्वीपो मे उपनिवेश बसाये थे । मध्य एशिया मे बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय भाषा, लिपि, दर्शन और कला भी गयी थी । तिब्बत का बौद्ध वाङ्मय भारतीय और भोट के पण्डितो के सहयोग से तिब्बती भाषा मे अनूदित हुआ था और तिब्बती लिपि भी भारत की देन है । आज भी तिब्बत के मठो मे प्राचीन संस्कृत के ग्रन्थ पूजे जाते है । दिङ्नाग का न्यायमुख और आलम्बन परीक्षा, धर्मकीर्त्ति का प्रमाणवर्त्तिक आदि कई प्रसिद्ध ग्रन्थ वहा से उपलब्ध हुए है । महापण्डित श्री राहुल सांकृत्यायन तिब्बत के मठो से ५१० हस्तलिखित संस्कृत पोथियो की सूची लाये है । अनेक भारतीय ग्रंथ मध्य एशिया मे पाये गये है । सिंकिआग का प्रान्त जो आज रेगिस्तान है, एक समय हराभरा प्रदेश था और उसके नगरो मे बौद्धो के अनेक विहार और चैत्य थे जहा समृद्ध पुस्तकागार और कला की वस्तुए थी । इस स्थान पर अनेक भाषाओ का समागम और मिलन होता था । इस प्रदेश से संस्कृत, प्राकृत तथा अन्य अपरिचित भाषाओ के ग्रन्थ उपलब्ध हुये है । स्टाइन ने भारत की ओर से खोज का काम किया था । पुराने विहारो के भग्नावशेष से बौद्ध मूर्तिया तथा रेशम, कागज और काठा पर अनेक चित्र प्राप्त हुए है । इस खोज से एक विलुप्त सभ्यता का पता लगा है । तुर्फान, कूचा, खुतन तथा अन्य स्थानो

से विपुल सामग्री प्राप्त हुई है। यह ग्रन्थ भूर्जपत्र, कागज, चमडा या लकडी पर लिखे गये हैं। इनकी लिपि गुप्तकालीन अथवा खरोष्ठी है। बौद्ध के संस्कृत आगम के कई ग्रंथ यहां पाये गये हैं तथा मातृचेट के २ प्रसिद्ध स्तोत्र ग्रंथ भी मिले है जिनकी प्रशसा चीनी पर्यटक इत्सिंग करता है। यही से अश्वघोष के नाटको के अंश प्राप्त हुए हैं। खुतन का राज-काज भारतीय भाषा मे होता था और यहां के राजाओ के नाम भारतीय थे। काराशर का प्राचीन नाम अग्निदेश था। कूचा से ही बौद्ध धर्म चीन गया था। प्रसिद्ध कुमारजीव कूचा का ही अधिवासी था। कूचा की संस्कृति भारतीय थी। यहां का तन्त्र व्याकरण का अध्ययन होता था।

अफगानिस्तान मे सन् १९२२ से प्राचीन खुदाई का काम हो रहा है। हड्डा मे अनेक स्तूप, चैत्य और मूर्तियां पायी गयी हैं। बामियान मे बुद्ध की विशाल मूर्तियां तथा भित्तिचित्र मिले है। यहां पर भूर्जपत्र पर लिखित संस्कृत ग्रंथ भी मिले हैं। यह महासांघिक विनयग्रंथ तथा महायान के अभिधम ग्रंथो के अंश हैं। काबुल के उत्तर-पश्चिम खैरखानिह पर्वत पर एक मन्दिर के भग्नावशेष मिले हैं जो गुप्तकालीन मन्दिर की रचना का स्मरण दिलाते हैं। यहां श्वेत संगमरमर की सूर्य की एक प्रतिमा भी मिली है जो चतुर्थ शताब्दि की है।

कम्बोडिया (कम्बुजदेश) जो हिन्दचीन मे समाविष्ट है ९०० वर्ष तक भारतीय संस्कृति का एक केन्द्र रहा है। यहां संस्कृति के लेख पाये गये है। यहां के स्थापत्य मे विष्णु, राम और कृष्ण की कथाएं संचित है। भारतीय कला का सौन्दर्य यहां निखरा है।

कहां तक कहे, दूर-दूर प्रदेशो मे भारतीय ग्रंथ पाये गये हैं। मैक्समूलर के एक जापानी शिष्य ने जापान के एक मन्दिर मे सुखावती व्यूह की पोथी पायी थी। चीन और मगोलिया मे बौद्ध धर्म के साथ-साथ भारतीय संस्कृति भी गयी थी। चीन के साहित्य का अध्ययन करने से भारत के सम्बन्ध मे बहुत सी बातें विदित होगी। कुछ काल पहले चीनी पर्यटक च्वग-च्वग को गया के संघाराम के आचार्य द्वारा लिखित पत्र और उसका उत्तर प्रकाशित हुआ था। इस सम्बन्ध मे यह नही भूलना चाहिए कि बौद्ध धर्म भारतीय था और उसकी संस्कृति भारतीय थी। अवैदिक होते हुए भी बौद्ध और जैन धर्म का कर्म

तथा कर्मफल मे विश्वास था और दोनो नास्तित्ववाद का खण्डन करते थे। पुन भारत के सब मोक्षशास्त्र चिकित्साशास्त्र के तुल्य चतुर्व्यूह है। हेय, हान, हेयहेतु और हानोपाय, यह चार सब मोक्षशास्त्रो के प्रतिपाद्य है। यही चार व्यूह योगसूत्र मे है। न्याय के यही चार अर्थपद है अर्थात् पुरुषार्थ स्थान है। बुद्ध के यही आर्यसत्य है। इन्ही चार अर्थपदो को सम्यक् रीति से जानकर नि श्रेयस की अथवा निर्वाण की प्राप्ति होती है। सब अध्यात्म विद्याओ मे इन चार अर्थपदो का वर्णन पाया जाता है। सभी शास्त्र समान रूप से स्वीकार करते हैं कि तत्वज्ञान अर्थात् सम्यग् दर्शन योग की साधना के बिना नही होता। न्याय दर्शन मे कहा है कि समाधि विशेष के अभ्यास से तत्व-साक्षात्कार होता है।

यह आत्म-सस्कार की विधि है। जन्मान्तर मे उपचित धर्म प्रविवेक मे योगाभ्यास का सामर्थ्य उत्पन्न होता है। यह धर्मवृद्धि की पराकाष्ठा को प्राप्त होता है (प्रचय काष्ठागत) और उसकी सहायता से समाधि-प्रयत्न प्रकृष्ट होता है। तब समाधिविशेष उत्पन्न होता है। वैशेपिक सूत्र मे भी कहा है कि आत्मकर्म से मोक्ष होता है। आत्मकर्म के अन्तर्गत श्रवण, मनन, योगाभ्यास, निदिध्यासन, आसन, प्राणायाम और शम-दम है। योग की साधना बौद्ध, जैन दोनो धर्मो मे पायी जाती है। प्राणायाम से काम और चित्त की प्रश्रब्धि होती है और जिस प्रकार न्यायशास्त्र प्राणायाम और अशुभ सज्ञा की भावना को विशेष महत्व देता है उसी प्रकार बौद्धागम मे भी उनको विशिष्ट स्थान दिया गया है। इनसे काम राग का प्रहाण और नाना प्रकार के अकुशल वितर्को का उपशम होता है। मैत्री भावना का भी माहात्म्य विशिष्ट है। इस प्रकार योग की साधना वैदिक तथा अवैदिक धर्मो को एक सूत्र मे बाँधती है और यह साधना सबको समान रूप मे तभी स्वीकार हो सकती थी जब सबके भौतिक विचारो मे भी किसी न किसी प्रकार का सादृश्य हो। मेरी धारणा है कि विविध सम्प्रदायो के होते हुए भी यदि हमारे देश मे धर्म के नाम पर रक्तपात नही के तुल्य हुए है तो उसका एक कारण यह भी है कि इनकी मोक्ष की साधना समान रही है और जिस युग मे भक्ति मार्ग का प्रभाव बढा उस युग मे बौद्ध धर्म मे भी भक्ति और उपासना का प्राबल्य था।

मैंने इसका उल्लेख इस कारण किया कि कही आप बौद्ध और जैन आगम की

उपेक्षा न करें। इन ग्रन्थो मे भारतीय समाजशास्त्र के इतिहास के लिए प्रचुर सामग्री मिलती है और बौद्ध तथा जैन विद्वानो ने न्याय, दर्शन, व्याकरण और काव्य के विकास मे विशिष्ट भाग लिया है।

ऐसे भारतीय वाङ्मय का सरक्षण तथा प्रचार करना हमारा आपका कर्तव्य होना चाहिए। मैंने भारतीय सस्कृति के विस्तार का यत्किंचित विवरण इस कारण दिया जिससे हमारे स्नातको को इसकी समृद्धि और मूल्य का ज्ञान हो।

किन्तु यह कार्य तब तक सम्पन्न नही हो सकता जब तक हम आलोचना और गवेपणा की आधुनिक पद्धति को न स्वीकार करें। अन्वेपण के कार्य के लिये यहा वृहत् आयोजन करना होगा। हम अपनी निधि की रक्षा और उसका मूल्याकन ठीक-ठीक नही कर सकेंगे जब तक सस्कृत विश्वविद्यालय मे सस्कृत के साथ पालि, प्राकृत, चीनी, भोट तथा कतिपय पाश्चात्य भापाओ की शिक्षा की व्यवस्था न की जायगी। पुन आज नवीन शास्त्रो का उदय हुआ है और प्राचीन विद्याएँ विकसित होकर प्रौढावस्था को प्राप्त हुई हैं। अनुसन्धान के कार्य के लिए इनमे से जिन शास्त्रो और विद्याओ का जितना ज्ञान आवश्यक हो उतना हमारे विशेपज्ञो को प्राप्त करना चाहिए। उदाहरण के लिए भापा-विज्ञान के सिद्धान्तो को जाने विना हम प्राचीन ग्रन्थो का कई स्थल पर ठीक-ठीक अर्थ नही लगा सकते। वैदिक साहित्य के समझने के लिए अनेक जातियो के सास्कृतिक इतिहास का तथा उनकी भापा का जानना भी आवश्यक है। भारत मे अनेक जातियाँ समय-समय पर आती रही है जो भारतीय समाज मे घुल-मिल गयी है। उनके आचार-विचार का प्रभाव आर्यो की सस्कृति पर पडा है। उत्तर-पश्चिम मे अनेक धर्म और सस्कृतियो का मिलन तथा परस्पर आदान-प्रतिदान हुआ है। वहा की कला पर यूनानी और ईरानी कला का प्रभाव पडा था। गाधार मे अनेक शैलियो का विकास हुआ था और इनकी पूर्ण निष्पत्ति खुतन, कूचा, तुर्फान आदि कला के प्रसिद्ध केन्द्रो मे हुई थी। इस प्रदेश मे बौद्ध धर्म का सस्पर्श ईरानी, मागी आदि धर्मो से हुआ था। अत इस युग के धर्म और सस्कृति के इतिहास को जानने के लिए इन विविध धर्मों और सस्कृतियो का ज्ञान आवश्यक है। भारतीय समाजशास्त्र की रचना के लिए आज केवल इतना पर्याप्त नही है कि हम विविध ग्रन्थो के

चाहिए। विज्ञान की सहायता के बिना यह साधारण सा कार्य भी नही हो सकता। जो पोथिया जीर्ण-शीर्ण हो रही हैं उनकी रक्षा का एक मात्र उपाय उनका चित्र लेना है। माइक्रोफिल्म और फोटोस्टैट कैमरा की सहायता से यह कार्य सुकर हो गया है, इस सम्बन्ध मे मुझे एक निवेदन करना है कि गवर्नमेण्ट को इण्डिया आफिस लाइब्रेरी मे सगृहीत भारतीय पुस्तको की वापिसी की चेष्टा करनी चाहिए। समाचार पत्रो से ज्ञात होता है कि ऐसी कुछ चेष्टा की जा रही है। यदि यह सत्य है तो यह परम सतोष का विषय है। इगलैण्ड के अतिरिक्त अन्य देशो मे जो ग्रथ गये हैं उनका चित्र प्राप्त करने का प्रयत्न होना चाहिए। एक ऐसा भी कानून बनाना चाहिए कि भारत से बाहर कोई प्राचीन ग्रथ, चित्र या कला की वस्तु न जावेगी।

मेरी सस्कृत विश्वविद्यालय की कल्पना यह है कि यहा प्राचीन शास्त्रो के स्वाध्याय-प्रवचन के साथ-साथ गवेषणा की पूरी व्यवस्था की जाय और इस सम्बन्ध मे जिन भाषाओ और नवीन शास्त्रो की शिक्षा की आवश्यकता हो उसका भी प्रबन्ध किया जाय। इस गवेषणा के कार्य मे पुरातन और नवीन शैली, दोनो के विद्वानो का सहयोग प्राप्त किया जाय तथा विद्यालय से निकले हुए आचार्यों को छात्रवृत्ति देकर अन्वेषण के कार्य के लिए तैयार किया जाय। यहा ऐसी भी व्यवस्था होनी चाहिए जिससे अन्य विश्वविद्यालयो के विद्वान यहा आकर अनुसन्धान के कार्य में योग दे सकें। किन्तु इस व्यवस्था से पूरा लाभ तभी होगा जब यहा के पाठ्यक्रम मे उचित परिवर्तन किये जायगे। आज के युग मे पुरानी पद्धति की सस्कृत की शिक्षा तभी अपने उद्देश्य को चरितार्थ कर सकती है जब शास्त्रो की शिक्षा के साथ-साथ मौलिक शिक्षा की भी व्यवस्था की जाय। प्रत्येक विद्यार्थी को केवल अपनी जीविका का ही उपार्जन नही करना है किन्तु उसे एक नागरिक के कर्तव्यो का भी पालन करना है और इससे भी बढकर उसे मनुष्य बनना है और मनुष्य भी पुराने युग का नही, आज के युग का जब समाज ने अपने सामजस्य को खो दिया है, जब विचारो मे सघर्ष चल रहा है और एक प्रकार की अनिश्चितता है जिसके कारण जीवन के प्रति कोई स्पष्ट और उत्कृष्ट दृष्टि नही बन पाती। वह मनुष्य क्या है जो अपनी मातृभाषा के साहित्य से परिचित नही है, जो एक शास्त्र का विशेषज्ञ होने के लोभ मे अपने साहित्य और कला की अमर कृतियों की उपेक्षा करता है? वह मनुष्य क्या है जो ससार के इतिहास से अपरिचित है, जिसको

वर्तमान समस्याओं और घटनाओं का ज्ञान नहीं है ? वह अपने विषय का विशेषज्ञ हो सकता है। यदि वह विज्ञान का विद्यार्थी है तो वह कुशल शिल्पी हो सकता है, यदि वह संस्कृत का शास्त्री या आचार्य है तो वह पौरोहित्य या अध्ययन का कार्य कर सकता है, किन्तु दोनों दूसरों का उपकरण ही बन सकते हैं और समाज और राजनीति के संचालन में वह अपने को असमर्थ पाते हैं। इसका कारण यह है कि वह अपने धन्धे को जानते हैं किन्तु शिक्षा और जीवन के परम उद्देश्य को नहीं जानते। उनकी दृष्टि व्यापक नहीं है और न उनकी शिक्षा का क्षेत्र इतना विस्तृत है कि उनको जीवन के विविध क्षेत्रों के लिये सामान्यरूप से तैयार करें। इसलिए प्रत्येक विद्यार्थी के लिये ऐसी पाठ्य-पद्धति होनी चाहिए जिसके द्वारा यह सामान्य किन्तु परम आवश्यक ज्ञान उसको दिया जा सके। इस दृष्टि से डाक्टर भगवानदास समिति के अभिप्रायों तथा निष्कर्षों का मैं सामान्य रूप से स्वागत करता हूँ। नवीन विषयों के समावेश की बात दूर रही, वर्तमान प्रणाली के अनुसार संस्कृत वाङ्मय का भी एकांगी अध्ययन ही हो पाता है।

अतः पाठ्यक्रम के क्षेत्र को दो प्रकार से हमें विस्तृत करना चाहिए। एक संस्कृत विद्या की पाठ्यविधि को व्यापक और सर्वांगीण बनाना। दो—पाठ्यविधि में आधुनिक विषयों का यथा, हिन्दी, इतिहास, भूगोल, राजशास्त्र, गणित का समावेश करना। साथ-साथ विद्यार्थियों में तुलनात्मक और आलोचनात्मक अध्ययन की प्रवृत्ति उत्पन्न करना चाहिए। इन सिद्धान्तों के आधार पर पाठ्य-पद्धति का पुनर्निर्माण होना चाहिये किन्तु इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि ज्ञान के गांभीर्य में कमी न हो तथा गांभीर्य की रक्षा करते हुए आवश्यक मात्रा में उसका विस्तार भी हो। जितना आधुनिक ज्ञान एक साधारण विद्यार्थी के लिये नितान्त आवश्यक है उतना तो संस्कृत पाठशालाओं के छात्रों को भी अर्जित करना चाहिए।

मैं एक दूसरे आवश्यक कार्य की ओर आपका ध्यान दिलाना चाहता हूँ, वह है संस्कृत वाङ्मय का हिन्दी में अनुवाद। यदि हिन्दी भाषा में हमारे प्राचीन ग्रंथ रत्नों का अनुवाद प्रस्तुत हो तो इससे भारतीय संस्कृति के प्रचार में बड़ी सहायता मिलेगी। आधुनिक भाषाओं की आप उपेक्षा नहीं कर सकते। सारा राज-काज इन्हीं भाषाओं में होने जा रहा है। धीरे-धीरे राष्ट्रभाषा विश्व-

विद्यालयों मे शिक्षा का माध्यम हो जायगी। आपको मातृभाषा का निरस्कार नही करना चाहिये। अब वह समय नही रहा जब किसी लेखक या कवि से प्रश्न किया जाय कि तुम संस्कृत का परिहार कर हिन्दी मे गद्य या काव्य रचना करने मे क्यो प्रवृत्त हुये हो। इसका उत्तर राजशेखर और गोस्वामी तुलसीदास जी दे गये है। राजशेखर के अनुसार संस्कृत बन्ध परुष है और प्राकृत बन्ध सुकुमार है। वह आगे चलकर कहते है कि उक्ति विशेष ही काव्य है भाषा चाहे जो हो। राजशेखर के समय मे संस्कृत काव्य कृत्रिम और क्लिष्ट हो गया था, यह उसके ह्रास की अवस्था थी। रामायण, महाभारत, महाभाष्य और शंकरभाष्य की शैली भुला दी गयी थी, काव्य का प्रसाद गुण विलुप्त हो गया था। भामह का कहना है कि काव्य को क्लिष्ट और दुरूह नही होना चाहिए, उसके समझने के लिये किसी टीका की आवश्यकता न होनी चाहिए। वह इतना सरल हो कि साधारण पढे-लिखे लोग, बालक और स्त्रियाँ भी उसे समझ सकें। गद्य का प्राण ओज है (ओज गद्यस्य जीवितम्) जब संस्कृत किसी भी वर्ग की बोलचाल की भाषा न रह गयी तो उसमे कृत्रिमता का आ जाना स्वाभाविक है। तब पाण्डित्य प्रदर्शन ही एक-मात्र काव्य-रचना का उद्देश्य रह गया और काव्य हृदयग्राही न रहा। माधुर्य और प्रसाद गुण मातृभाषा के साहित्य मे ही सुगमता के साथ आ सकता है। अत मातृभाषा मे साहित्य-सर्जन करने मे हमको गौरव का अनुभव करना चाहिए।

मैंने अपनी बुद्धि के अनुसार यह बताने की चेष्टा की है कि संस्कृत विश्व-विद्यालय का क्या उद्देश्य और क्या कार्यक्रम होना चाहिए। यहाँ मैं यह स्पष्ट कर देना चाहता हू कि इस विश्वविद्यालय मे उन सब विषयो के अध्ययन की व्यवस्था साधारणत करने की कोई आवश्यकता नही है जिनका प्रबन्ध अन्य विश्वविद्यालयो मे होता है। वहाँ का पठन-पाठन अब राष्ट्रभाषा में होगा। अत जिनको उन विषयो की शिक्षा लेनी है वह वहाँ जा सकते हैं। इसकी सुविधा अवश्य होनी चाहिए किन्तु संस्कृत विश्वविद्यालय का एक विशेष लक्ष्य है जिसकी पूर्ति अन्य विश्वविद्यालयो मे नही हो रही है। एक प्रकार से यह विद्यालय भी है और प्राच्य विद्या के अन्वेषण का एक प्रतिष्ठान भी है। ज्ञान-राशि अनन्त है, उसकी सीमा नही है। इधर अनेक नवीन शास्त्रो की प्रतिष्ठा हुई है और ज्ञान का विस्तार इतना बढ गया है कि बिना अन्तर-

अध्याय सहयोग के गवेषणा का कार्य दुष्कर हो गया है। ज्ञान के सदृश दूसरी पवित्र वस्तु नहीं है। अतः विदेशियों से उसके लेने में संकोच नहीं होना चाहिए। प्राचीन काल में भी हमने स्वाध्याय और प्रवचन में कृपणता नहीं दिखायी थी। आज भी हमको उसी उदार बुद्धि तथा व्यापक दृष्टि से काम लेना चाहिए। इसी में हमारा मंगल है। इसी प्रकार भारत की सर्वतोमुखी प्रतिभा का उन्नयन होगा।

संस्कृत का आदर और सम्मान अधिकाधिक बढ़ता जायगा। संसार के प्रत्येक प्रतिष्ठित विश्वविद्यालय में संस्कृत की शिक्षा का समुचित प्रबन्ध किया गया है। पाश्चात्य जगत के विद्वान गवेषणा के कार्य में हम से कहीं आगे बढ़े हुए हैं, उनमें ज्ञान की पिपासा है; जहाँ से ज्ञान मिल सकता है वहाँ से लेने में उनको तनिक भी संकोच नहीं होता। हम में या तो मिथ्या गर्व और पिसांद्रेक है अथवा आत्मावसाद है। दोनों का परिहार कर संस्कृत वाङ्मय के संरक्षण और प्रचार में हम को प्राणपण से लग जाना चाहिए। जो विद्यार्थी अपनी शिक्षा समाप्त कर उपाधि ले रहे हैं उनका इस विषय में विशेष उत्तरदायित्व है।

समाजवाद का सांस्कृतिक स्वरूप

आचार्य नरेन्द्र देव

नैतिक तथा आध्यात्मिक विशिष्टता प्राप्त करने का प्रयत्न करना वर्ग-संघर्ष का अविच्छेद्य अंग है। इस पर समाजवाद के प्रमुख नेताओं ने निरन्तर जोर दिया है। मार्क्स ने लिखा कि मजदूरों के लिए मजदूरी में वृद्धि होना उतना आवश्यक नहीं है जितना कि वर्ग-संगठन, एकता तथा अपने उद्देश्यों के लिए त्याग आवश्यक है। रोजा लुक्समबर्ग ने एक अवसर पर कहा था कि समाजवाद रोटी-मक्खन का सवाल नहीं है किन्तु एक विश्वव्यापी सांस्कृतिक आन्दोलन है। यदि मजदूर वर्ग को इतिहास ने समाजवाद का उपकरण बनाया है, यदि समाजवाद की स्थापना करना उसका इतिहास निर्दिष्ट काम है तो इसमें सन्देह नहीं कि मजदूर वर्ग को बौद्धिक तथा नैतिक दृष्टि से इस कार्य को सम्पन्न करने के लिये अपने को तैयार करना होगा। यदि यह सत्य है कि पूंजीवाद और विज्ञान उन अवस्थाओं को उत्पन्न करता है जो समाजवाद की स्थापना को सम्भव बनायेंगी तो यह भी कुछ कम सत्य नहीं है कि मजदूर वर्ग को इस कार्य के लिये एक उपयुक्त साधन बनना होगा। यह कार्य बिना शिक्षा-दीक्षा के नहीं हो सकता। नया समाज वर्ग-विहीन होगा और उसका आधार सच्ची स्वतन्त्रता, समानता, समाज के न्याय और भ्रातृत्व है। यह कितना ऊँचा आदर्श है, यह एक नवीन संस्कृति को जन्म देगा। जब तक मजदूर वर्ग उस संस्कृति को आत्मसात नहीं कर लेता जिसकी सृष्टि मध्यम वर्ग ने की है तथा उसकी कमियों को दूर कर विश्व कुटुम्ब के आधार पर नये समाज का संगठन नहीं करता तब तक समाजवाद की स्थापना सम्भव नहीं है। समाज के परिवर्तन में मानव का ऊँचा स्थान है। नये समाज के लिये नया मानव चाहिए। उसको चरित्र बल और ज्ञान बल दोनों चाहिए। यदि सच्चे समाजवाद की स्थापना में विलम्ब हो रहा है या उसका विकृत रूप पाया जाता है तो उसका एक कारण यह भी है कि मजदूर वर्ग को बौद्धिक और नैतिक शिक्षा हो नहीं रही है। मध्यम वर्ग के पास धन और

ज्ञान दोनो था इसलिए उसे सामन्तशाही का अन्त करने मे अधिक समय नही लगा। किन्तु मजदूर वर्ग दरिद्र और अपढ दोनो है इसलिए नवीन संस्कृति का प्रेरक और सस्थापक बनना उसके लिए एक दुष्कर कार्य है। इसमे बहुत समय लगता है। इस कमी के कारण उसको बुद्धजीवी वर्ग पर आश्रित होना पडता है। बुद्धजीवी वर्ग दो भागो मे बट जाता है। एक भाग पूंजीवाद का समर्थक होता है, दूसरा भाग अपने वर्ग की विशेषता को खोकर मजदूरो से अपना तादाम्य स्थापित कर उनका नेतृत्व ग्रहण करता है। इसलिये किसी पिछडे हुए देश मे समाजवादी पार्टी को बुद्धजीवी वर्ग की सहायता विशेष रूप से अपेक्षित होती है। ऐसे देशो मे समाजवादी पार्टी इस वर्ग की उपेक्षा नही कर सकती क्योकि उसकी सहायता के बिना मजदूर वर्ग पगु बन जाता है। किन्तु इसमे एक खतरा भी है। बुद्धिजीवी वर्ग मजदूरो को बहका भी सकता है। यदि नेता अवसरवादी हुए तो आदर्श भ्रष्ट हो जाता है और समाजवाद का लक्ष्य तिरोहित होने लगता है। इस अवस्था मे भी मजदूरो की सास्कृतिक शिक्षा की ओर विशेष ध्यान देना आवश्यक है।

समाजवाद की लडाई मजदूर वर्ग के नैतिक उत्कर्ष की अपेक्षा करती है। यदि हम नैतिक आधार पर पूजीवाद को घृणित बताते हैं तो हमको एक नैतिक स्तर पर समाज को एक नवीन दृष्टि देनी चाहिए।

वस्तुस्थिति यह है कि समाजवाद का अर्थ केवल उत्पादन के साधनो का समाजीकरण नही है किन्तु अपने जीवन का भी समाजीकरण है। एक समाजवादी केवल अपने और अपने कुटुम्ब के लिए नही जीता है किन्तु सकल समाज के लिए जीता है। उसका हृदय उदार और विशाल होता है और मानवी पीडा का वह वैसे ही हिसाब रखता है जैसे भूकम्प-मापक यन्त्र मृदु से मृदु कम्प का।

समाजवाद मे सदा नैतिक अश की प्रधानता रही है मार्क्स का दर्शन और अर्थ शास्त्र पडितो के लिए है। उसका अपना महत्व है इसमे सदेह नही। उससे नेतृवर्ग मे दृढता आती है और समाजवाद की सफलता मे अटल विश्वास उत्पन्न होता है। उसकी सहायता से वस्तुस्थिति का ज्ञान होता है और मार्ग पर प्रकाश पडता है। किन्तु साधारण जन उसके आदर्शों से प्रभावित होकर उसकी ओर आकृष्ट होता है, मानव का शोषण और उत्पीडन शोषित के साथ सहानुभूति उत्पन्न करता है और समानता की भावना जो प्रत्येक मानव

हृदय मे पायी जाती है और समानता तथा स्वतन्त्रता के लिये आत्मत्याग करने के लिये साधारण जन को तैयार करती है। क्षुद्र से क्षुद्र मनुष्य इस नवीन बल से बलिदान होकर शक्तिशाली राज्य की नीव को हिलाने के लिए, और बडा से बडा बलिदान देने को तैयार हो जाता है।

यह नैतिक बल महान भय से रक्षा करता है। यह एक कवच की तरह काम करता है जो राज्यशक्ति के प्राप्त होने पर शासक वर्ग को राज्य सत्ता के भेद से दूर रखता है। आज के युग मे शक्ति की पूजा बहुत बढ गयी है और अधिकतर लोलुपता के कारण शासक वर्ग मे परस्पर का विद्वेष, वैमनस्य और सघर्ष पाया जाता है। इसके फलस्वरूप जीवन के सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य भी नष्ट हो गये है। किन्तु पहले ऐसी बात न थी। जो लोग एक नये आन्दोलन की सृष्टि करते हैं उनमें आदर्शवादिता अधिक मात्रा मे पायी जाती है। किन्तु जब आन्दोलन को सफलता मिलने लगती है और उसके फल चखने का अवसर आता है तब परस्पर की कलह और प्रतिस्पर्द्धा बढ जाती है। शक्ति और अधिकार के लिए होड लग जाती है। सच्चे समाजवाद की स्थापना ऐसे लोगो के द्वारा नही हो सकती। किसी भी समाज के जीवन मे ऐसे अवसर आते रहते हैं जब समाज का एक भाग व्यक्तिगत क्षुद्रता से ऊपर उठ जाता है, जब उसमे किसी आदर्श या लक्ष्य के लिए जीवन अर्पण करने तथा बडे से बडा त्याग करने की भावना प्रबल होती है। समाज के इतिहास मे यही उज्ज्वल युग होते हैं। उस समय समाज का वातावरण एक नवीन उत्साह, एक नवीन विचार और कल्पना से ओतप्रोत होता है। उस समय सबको ऊपर उठने का अवसर मिलता है। समाज एक ऊँचे स्तर मे प्रवेश करता है और एक नये युग के प्रवर्तक आगे आते है। नवयुवक इस वातावरण से विशेष रूप से प्रभावित होते हैं। नये स्वप्न, नई कल्पनाएँ युवको को आकृष्ट करती हैं। नये विचारो की चर्चा हर जगह होती है। ज्ञानोपार्जन की उत्सुकता बढ जाती है और प्रत्येक युग अपना साहित्य प्रस्तुत करता है। समुद्र मे जब ज्वार-भाटा आता हैं तब वह उल्लोडित होता है उसमे तरगें उठती हैं और उसका जल मानो चन्द्रमा को छूने के लिये विकल हो उठता है। उसी प्रकार क्रान्ति के युग मे मानव हृदय मे उद्वेग उत्पन्न होता है वह अपनी क्षुद्र सीमा का अतिक्रमण कर सकल समाज को व्याप्त करना चाहता है और अगाध समुद्र की तरह असीम होना चाहता है।

अधिनायकत्व ने जीवन के सब मूल्यो को विनष्ट कर दिया। वह समाजवाद भी जिसकी आधारशिला नैतिकता थी अब नैतिक जीवन का मजाक उडाने लगा। साधन की पवित्रता कोई बात ही नही रही। सत्य ही सब कुछ है, उसके लिये सब साधनो का उपयोग किया जा सकता है। यदि साध्य की प्राप्ति होती है तो मानना पडेगा कि साधन ठीक है। किन्तु लोग यह भूल गये कि इसका क्या ठीक है कि कब साध्य की प्राप्ति होगी। साध्य की प्राप्ति मे कभी-कभी सदियाँ गुजर जाती है। नैतिकता के इस ह्रास के कारण समाजवाद का विकृत रूप हो गया व राजनीति शक्ति पाने का अखाडा मात्र बन गयी। झूठ के प्रचार के लिये एक प्रचण्ड अस्त्र का निर्माण किया गया।

आचार्य नरेन्द्रदेव : महत्वपूर्ण जीवन तिथियाँ

३१ अक्तूबर १८८९ : जन्म (सीतापुर)

१८९१ . पिता के साथ फैजाबाद

१९०२ : शिक्षारम्भ — फैजाबाद

१९०७ इन्ट्रेन्स पास — फैजाबाद

१९११ बी० ए० (इलाहाबाद)

१९१३ एम० ए०, क्वीन्स कालेज काशी

१९१५ एल० एल० बी०, इलाहाबाद

१९१५ १९२१ फैजाबाद मे वकालत, होमरूल लीग का सगठन। प्रान्तीय मत्री, काशी विद्यापीठ के उपाध्यक्ष नियुक्त। काग्रेस मे सक्रिय, काशी विद्यापीठ के अध्यक्ष।

१९३० सविनय अवज्ञा मे प्रथम कारावास

१९३२	फिर जेल
१७ मई १९३४	अ० भा० काग्रेस-समाजवादी पार्टी की स्थापना, सम्मेलन के अध्यक्ष।
१९३६	यू० पी० प्रान्तीय काग्रेस के अध्यक्ष व काग्रेस कार्य-समिति के सदस्य मनोनीति।
१९३७	उ० प्र० विधान परिषद् के सदस्य निर्वाचित।
१९४१	व्यक्तिगत सत्याग्रह मे गिरफ्तार
९ अगस्त १९४२	काग्रेस कार्यसमिति के सदस्यो के साथ गिरफ्तार होकर अहमदनगर जेल मे नजरबन्द।
१९४६	यू० पी० लेजि० के सदस्य निर्विरोध निर्वाचित।
१९४७	लखनऊ विश्वविद्यालय के उप कुलपति नियुक्त।
मार्च १९४८	काग्रेस समाजवादी पार्टी के नासिक निर्णय के अनुसार काग्रेस से त्याग पत्र और विधान सभा से भी त्यागपत्र देकर एक नयी मान्यता स्थापित की।
१९५२	बनारस विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त और राज्य सभा मे एम० पी० निर्वाचित, चीनी सास्कृतिक मिशन मे चीन यात्रा।
१९५४	योरोप मे स्वास्थ्य लाभ के लिए यात्रा और नागपुर प्रसोपा सम्मेलन के अध्यक्ष।
१९५५	गया प्रसोपा सम्मेलन के अध्यक्ष।
१९ फरवरी १९५६	महानिर्वाण प्राप्त, पेनन्दुराई (मद्रास) और लखनऊ मे दाह सस्कार।

राष्ट्र रचना का संदेश

आचार्य नरेन्द्र देव

हमारे ऊपर दो युगो के कर्तव्य का भार आ पड़ा है। हमें राजनीतिक स्वतन्त्रता बहुत देर में ऐसे युग में मिली है जब कि राष्ट्रीयभावना जनतान्त्रिक समाजवाद के द्वारा पराभूत हो चुकी है। एक अर्थ में यह अच्छा है, क्योंकि इससे राष्ट्रीयता की अति नहीं हो सकती।

जाति बहुत पुरानी प्रथा है। बहुत-सी सामाजिक क्रान्तियो के बाद भी यह जीवित है और इसकी जीवनी-शक्ति आश्चर्यजनक है। जो आर्थिक और सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं वे इसे दुर्बल बना रहे हैं, परन्तु इस प्रक्रिया की गति फिर भी धीमी है। वस्तुत, क्योंकि हमारी जनता को स्वराज्य का उद्देश्य और अर्थ अच्छी तरह नही समझाया गया है, स्वतन्त्रता के बाद जाति भावना सुदृढ ही हो रही है। आधुनिक युग में जाति-प्रथा काल-विपरीत है। यह जनतन्त्र और राष्ट्रीयता दोनो के विरुद्ध है। इसलिए हम, वर्तमान पीढी के लोगो को, राष्ट्रीयभावना को सुदृढ करना चाहिये। केवल वही सम्प्रदायवाद और जातिवाद की बुराइयो को रोक सकती है। हमें केवल वर्गविहीन ही नही बल्कि जातिविहीन समाज के लिये भी प्रयत्नशील होना चाहिये। हमे सावधानी से राष्ट्रीय भावना पैदा करना चाहिये। यह आवश्यक है कि हमारा एक सामान्य चिह्न और सामान्यलक्ष्य हो जिससे विभिन्न जातियो और समूहो के लोग अपनी एकता का अनुभव कर सकें। एक भाषा, एक कानून, एक पोशाक, और कुछ समान व्यवहार राष्ट्रीय भावना को दृढ करने में बहुत बडे सहायक बन सकते हैं। इन सबके ऊपर कुछ ऐसे समान उद्देश्य जनता के सामने रखे जाने चाहिये जिनमे सभी सम्प्रदायो की समान रुचि हो, और जिनकी सिद्धि के लिये वे घनिष्ट सहयोग के साथ प्रयास करें।

इसका यह अर्थ नही, और न यह आवश्यक या वाञ्छनीय ही है कि सारी

अनेकता या विविधता समाप्त कर दी जाय। लोग अपने धार्मिक विश्वासों और सांस्कृतिक शैलियों के प्रति बड़ा आग्रह रखते हैं। हम उनमें हस्तक्षेप नहीं कर सकते सिवाय इसके कि धर्म के नाम पर भी असभ्य और अनैतिक प्रथाओं और आचारों को सहन नहीं किया जा सकता। किन्तु सारे देश में एक ही कानूनी और आर्थिक पद्धति स्थापित होनी चाहिये। हिन्दू उत्तराधिकार तथा विवाह सम्बन्धी कानून का संशोधन हुआ है। अच्छा होता कि हम उन कानूनों को सभी धार्मिक सम्प्रदायों के लिये बनाते और यह व्यवस्था कर देते कि फिलहाल वे मुसलमानों और ईसाइयों पर लागू न होंगे। जनजातियों के लिये अवश्य काफी समय तक भिन्न व्यवस्था करनी होगी।

हिन्दी इसलिए राष्ट्र भाषा स्वीकृत नहीं हुई है कि उसका साहित्य अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य से अधिक सम्पन्न है, न इसलिए कि वह किसी अधिक उन्नत संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती है, किन्तु इसलिए कि उसका प्रादेशिक विस्तार अन्य भाषाओं की अपेक्षा अधिक है। उसके विस्तार में अहिन्दी राज्यों के मुसलमान निवासियों के द्वारा, हिन्दी भाषी मजदूरों के द्वारा जो कि भारत के अन्य भागों में जीविकोपार्जन के लिए चले गए हैं, और हिन्दुस्तानी चल चित्रों के द्वारा सहायता मिली है। किन्तु हिंदी के समर्थकों को स्मरण रखना चाहिए कि उनके लिए अपने विचारहीन वक्तव्यों के द्वारा दूसरों की भावनाओं को ठेस पहुंचाना उचित नहीं है और न तो हम उन लोगों पर हिन्दी को जबरदस्ती लाद सकते हैं जो आज उसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं। यह विनम्रता के भाव से होना चाहिए। यह स्मरण रखना चाहिए कि हिन्दी की उन्नति सौजन्यपूर्ण रीति से ही हो सकती है न कि प्रभुत्व की भावना के प्रदर्शन से।

दूसरा आवश्यक सुधार एक समान लिपि को स्वीकार करना है। सब लोग चाहते हैं कि आज का शिक्षित भारतीय एक से अधिक भारतीय भाषाओं को जाने। किन्तु जब तक अनेक लिपियां रहेंगी तब तक यह इच्छा कार्य रूप में परिवर्तित नहीं हो सकती। यदि हम एक लिपि को अपना लें तो हिन्दी भाषी लोग कम से कम उत्तर भारतीय भाषा को कुछ ही महीनों में सीख सकते हैं। कुछ लोगों को दक्षिण भारतीय भाषायें भी विशेष कर तामिल भाषा सीखनी चाहिए। अन्य साहित्यों के कुछ श्रेष्ठ ग्रन्थों का अनुवाद करके हिन्दी को सम्पन्न करना चाहिए।

और असफलता दोनो से सीख ले सकते है। परन्तु यह तभी सम्भव है जब हम उनके कार्यों का बिना किसी पूर्व-धारणा के ठीक-ठीक मूल्यांकन करें। मेरा उन्मान सदैव ही आलोचनात्मक रहा है परन्तु मेरी सहानुभूति सदैव सोवियत रूस के साथ रही है। और यदि मैंने कभी उसके कुछ कार्यों और नीतियों की जोरदार आलोचना की है तो उसे बदनाम करने के लिये नहीं बल्कि इसलिये कि मुझे बहुत दुख होता है कि उसने एक महान अवसर खोदिया, विशेषकर पिछले महायुद्ध के बीच और उसके बाद, एक दुर्दमनीय नैतिक शक्ति होने का, जिसने न केवल उसकी शत्रुओ से रक्षा की होती बल्कि उन विचारों को बढ़ाने मे बहुत सहायक हुई होती जिनका प्रारम्भ मे इसने पक्ष लिया था।

समाजवाद नये युग का शुभ-सन्देश है। हम प्रजा सोशलिस्टपार्टी के लोगो को, अपने इस पुरातन देश मे इस शुभ सन्देश का प्रचार और तदनुसार एक नव-समाज की रचना को अपने जीवन का उद्देश्य बनाना है।

हमारा देश अविकसित है और अपनी आर्थिक योजनाओ की वित्त व्यवस्था के लिए हमारे पास आवश्यक साधन नही है। इसलिये हमे स्वयं त्याग का नियम लागू करना होगा, परन्तु यह तभी सभव है जब कि देश के लोगो को यह विश्वास हो जाय कि श्रेष्ठतर भविष्य के लिये आज का त्याग आवश्यक है। परन्तु सरकारी योजनाओ के लिये जन-उत्साह जागृत करने के लिये कुछ भी नही किया जा रहा है। पिछले सात वर्षो मे जनता मे नई स्वतन्त्रता की भावना भरने मे सरकार की असफलता स्पष्ट है। लोग यह नही अनुभव करते कि उनके लिये कुछ भी ऐसा हुआ है जिसने उनके व्यक्तित्व को कोई विशेष अर्थ और महत्व प्रदान किया हो। वे राष्ट्र निर्माण कार्य मे भागी होने के गौरव का अनुभव नही करते है और जब तक ऐसा नही होता है योजनायें चाहे वे कितनी भी शब्दाडम्बर पूर्ण क्यो न हो, सफल नही होगी। यह यथार्थ है कि जब तक साधारण नागरिक जन-जीवन से स्पन्दित नही होता वह सहयोग नही करेगा और पूर्व की भांति उदासीन तथा निष्क्रिय बना रहेगा।

भारतवर्ष मे गांधी जी प्रथम व्यक्ति थे जिन्होने किसी भी राष्ट्रीय संग्राम मे जनता के महत्व को समझा। उनके पूर्व हमारा शिक्षित मध्यम वर्ग या तो वैधानिक उपायो मे विश्वास करता था या षड्यन्त्रकारी कामो मे। गांधी जी ने जनता से अपनी पूर्ण एकरूपता स्थापित की और जब भारत स्वतन्त्र हुआ

तो उन्होने एक वर्ग-विहीन और जाति-विहीन समाज की स्थापना का प्रतिपादन किया, जो शोषण मुक्त होगा और जिसमे जनता प्रभुसत्ताधारी होगी।

आज हम विश्वास करते है कि इस परमाणु-युग मे हिंसा को राष्ट्रीय और अन्तराष्ट्रीय दोनो ही क्षेत्रो से अस्वीकृत करना है। युद्ध किसी भी समस्या का हल नही है। परमाणु-युग प्रकट करेगा कि वे जो कि अभी भी हिंसा मे विश्वास रखते है आत्म-प्रवचक है। सह-अस्तित्व, यदि स्वीकार कर लिया गया तो युद्ध के तनावो को कम, और युद्ध को स्थगित, करेगा, और इस प्रकार विश्व के समझदार लोगो को शान्ति और युद्ध की समस्याओ का स्थायी हल ढूढने का अवसर देगा। इस स्थायी हल पर नीति घोषणा-पत्र मे विचार किया गया है जो आपके सम्मुख विचारार्थ प्रस्तुत किया जायगा। जब तक छोटे बडे, सभी राष्ट्रो, के साथ समानता के आधार पर व्यवहार नही किया जाता, और वर्तमान विषमतायें दूर नही की जाती, जब तक कि धनी राष्ट्र गरीब राष्ट्रो के कल्याण को अपना प्रश्न नही समझते, राष्ट्रीय सघर्ष के कारणो को मिटाया नही जा सकता।

युद्ध कोई हल नही है इसलिये इसे गैर कानूनी दिया जाना चाहिये। हम एक विचित्र स्थिति देखते हैं कि युद्ध-काल मे शत्रु-देश का विध्वस बडे पैमाने पर किया जाता है परन्तु जब युद्ध समाप्त होता है तो विजयी राष्ट्र लाखो रुपया खर्च करके उन्ही घावो के भरने और विजित-राष्ट्रों की अर्थ व्यवस्था ठीक करने की आवश्यकता का अनुभव करने लगते है। यह स्पष्ट हो चुका है कि युद्ध से विजयी राष्ट्रो का कोई स्थायी लाभ नही होता। यदि कोई देशार्जन होता भी है तो स्थायी होता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि युद्ध केन्द्र-व्यावहारिक प्रस्ताव भी नही है।

राष्ट्रीय क्षेत्र मे भी हिंसा का प्रयोग उपयोगी नही होगा। वैज्ञानिक आविष्कारो के कारण शासकदल की सैनिक शक्ति बहुत बढ गई है, जो जनता द्वारा अपनाये गये, युद्ध मार्ग को, जब कि वह स्थापित सत्ता के विरुद्ध विद्रोह करती है, अर्थहीन बना देती है। दूसरी तरफ विश्व-घटनाओ के दबाव तथा मजदूर और अन्य आन्दोलनो के बढते हुये प्रभाव के कारण शासकवर्ग प्रत्येक स्थान पर जनता को अधिक सुविधायें प्रदान करने के लिये विवश हो रहा है, जब कि स्वतन्त्र देशो मे बालिग मताधिकार के साथ जनतान्त्रिक सविधान अपनाये जा रहे है। भविष्य जनतान्त्रिक समाजवाद के साथ है। इसमे सन्देह नही कि आज जो दो शक्तियाँ ससार पर प्रभुत्व स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील है वे कम्यूनिज्म

और पूंजीवाद है, जनतान्त्रिक समाजवादी शक्तियां कमजोर हैं। किन्तु मेरा विश्वास है कि जैसे-जैसे सोवियत नागरिकों का सांस्कृतिक स्तर ऊंचा होगा और लौह आवरण उठेगा, सोवियत कम्युनिज्म अधिकाधिक उदार होगा और जब अपनी प्राचीन सभ्यता का अभिमानी चीन अपने जीवन को अपने ढङ्ग पर संचालित करने की स्थिति में होगा, जो कि अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति में परिवर्तन होने पर अवश्यम्भावी है, तब नई प्रवृत्तियां अवश्य ही उत्पन्न होंगी जो जनतान्त्रिक समाजवाद के अधिकाधिक समीप आती जायगी। यह इसलिए होगा कि मनुष्य अन्ततोगत्वा अपने स्वरूप की स्थापना करेगा और यदि स्वतन्त्रता और जनतान्त्रिक भावना उसका स्वरूप नहीं है तो फिर क्या है? वह सदा निरंकुश शासन को सहन नहीं करेगा और न वह उन व्यवस्थाओं को सहन करेगा जो उसे दबाने के लिए बनी हैं। मनुष्य का यह स्वभाव है कि वह आत्म-विस्तार के द्वारा अपने स्वरूप को प्राप्त करता है। परिवार और जन-राज से चलकर हम क्रमशः राष्ट्रीय राज तक पहुंचे हैं और इस बात के स्पष्ट चिह्न लक्षित हो रहे हैं कि हम धीरे-धीरे विश्व-समुदाय की ओर अग्रसर हो रहे हैं। जनतान्त्रिक भावना का मूल मानव प्रकृति की गहराइयों में है और वह बारम्बार अपने को प्रकट करती है। पिछले दो महायुद्ध जनतन्त्र के नाम पर लड़े गये। मानव जाति के मन पर इस भावना का प्रभाव इतना प्रबल है कि अधिनायकतन्त्री देशों को भी जनतन्त्र की भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। यही कारण है कि गत महायुद्ध के बाद से नयी कम्यूनिस्ट सरकारें अपने को जनवादी सरकारें कहने लगी हैं। सर्वहारा के, मजदूरों और किसानों के अधिनायकत्व को स्वीकार नहीं किया जाता। साथ ही साथ मूल्यों का पुनर्निर्धारण भी हो रहा है। और आज आर्थिक तथा सामाजिक अधिकारों को अधिकाधिक स्वीकृति प्राप्त हो रही है।

मनुष्य बहुत दिनों तक अपने सच्चे स्वरूप से दूर रह चुका है। किंतु जनता जब एक बार जाग जायगी और शिक्षित हो जायगी तब वह अपने पैर पर खड़ी होगी और अपना प्रभुत्व स्थापित करेगी।

गया
२६ दिस[म्बर]

[वक्तव्य से उद्धरित]